प्रकाशकीय

भगवान महावीर परम वीतराग आप्त पुरुष हैं। उनकी कही हुई वाणी यथार्थ जनमंगल की वाणी है। उसी वाणी का आधार लेकर हमारे दर्शन एवं धर्म की चिंतनधारा प्रवाहित है। अतः श्रमण इतिहास में यदि आज कोई महापुरुष विशेष भास्वर है, तेजोमय है, तो वह भगवान् महावीर हैं।

अबतक के प्रायः अधिकांश चरित्र ग्रन्थ, जो भगवान महावीर के दिव्य जीवन से सम्बन्धित हैं, एक निश्चित दिशा में ही, एक निश्चित मानक में ही—जैसे कि रचयिता ने पूर्व निर्धारित रेखाओं को खड़ी करके उसके भीतर ही अपने विचारों का महल निर्माया हो, रचे गये हैं। किंतु आज का युग कुछ और मांगता है। इसी कुछ और शब्द में युग की मांग—युगबोध, युग एवं जग जीवन—सब कुछ छिपा पड़ा है। यह कुछ और चाहता है कि भगवान की दिव्य जीवनरेखा एवं वाणी का आज के प्रवहमान युग के परिप्रेक्ष्य में पुनर्मूल्यांकन हो, चिंतन-मनन हो और एक ऐसा सरल सर्वसुलभ मार्ग उस बीच से खोज निकाला जाय कि देवत्व की कल्पना हमारे जीवन से दूर की वस्तु न होकर हमारे जीवन के स्वस्थ विकास की परिणति में लक्षित हो। हम भगवान शब्द को सुनते ही भीरु बनकर अपना सब कुछ खो न जाएं, बल्कि भगवान के रूप में अपने जीवन का ही स्वस्थ विकास समझें। हम भगवान् शब्द को श्रवण कर एक तेजोमय गरिमा से उद्दीप्त होकर हम भी कुछ हैं हमारा जीवन—मानव जीवन भी कुछ महत्व रखता है इसका ध्यान करें। इसमें भय नहीं प्रेरणा

प्राप्त करें जीवन को स्वस्थ पथदिशा की ओर ले चलने का प्रकाश प्राप्त कर।

श्रद्धेय कवि श्री जी ने प्रस्तुत पुस्तक 'विश्व ज्योति महावीर' में अपने जीवन के सुदीर्घ चिंतन अध्ययन एवं अनुभव मंथन के आधार पर वर्तमान युग के परिप्रेक्ष्य में भगवान के जीवन एवं उनकी वाणी का पुनर्मूल्यांकन बड़े ही सुन्दर एवं सरल भावधारा में प्रस्तुत किया है। इसमें भगवान महावीर के सहज जीवन का बिना किसी आग्रहविशेष से प्रभावित हुए चित्र प्रस्तुत किया गया है। 'विश्व ज्योति महावीर' की यही सबसे बड़ी विशेषता है कि भगवान् महावीर को किसी कल्पना लोक के भगवान के रूप में न अपनाया जाकर विश्व की ज्योति के रूप में अंकित किया गया है। श्रद्धेय कवि श्री ने इसमें अपने अनुभव के रत्नों को बड़े ही सरल रूप से जन मानस के समक्ष प्रस्तुत किया है।

भगवान महावीर के अनेक के जीवनविषयक लिखित साहित्य में प्रस्तुत पुस्तक अपनी शैली की प्रथम है। इसमें सिर्फ पुरानी रेखाओं में नया रंग ही नहीं, किन्तु रेखाओं की कल्पना भी बड़े कलात्मक व चिंतन पूर्ण ढंग से हुई है। विचार क्षेत्र में प्रस्तुत कृति का बहुत ही समादर हुआ है।

भगवान् महावीर के आगामी २५ सौवें निर्वाण कल्याणक के पावन प्रसंग पर उक्त पुस्तक का प्रकाशन करते हुए हम अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। अत्यल्प समय में ही यह दूसरा संस्करण सहृदय पाठकों की सुरुचि का एवं पुस्तक की लोकप्रियता का परिचायक है।

मंत्री

सन्मति ज्ञानपीठ आगरा

अनुक्रमणिका

भगवान् महावीर
की
आठ अमर शिक्षाएँ

पहल कभी नही सुने गए पवित्रधम (धम प्रवचन) को सुनने के लिए तत्पर रहो।

सुने हुए धम का आचरण करने को तत्पर रहो।

सयमसाधना के द्वारा नये पाप कर्मों का निरोध करने म तत्पर रहा।

तप साधना के द्वारा पुराने सचित पाप कर्मों को नष्ट करने मे तत्पर रहो।

अनाश्रित एव असहायजना को सहयोग एव आश्रय देने मे तत्पर रहो।

शक्ष (नये शिक्षार्थी) को सदाचार का उचित माग दशन करने म तत्पर रहो।

दीन दुखी रोगिया की सेवा करने के लिए सदा प्रसन्नभाव से तत्पर रहा।

यदि अपने सहधर्मी बन्धुआ म किसी कारण मतभेद कलह, विग्रह आदि उत्पन्न हा गया हा तो उसे शात कर परस्पर सद्भावना बढाने म सदा तत्पर रहा।

- स्थानांग सूत्र अष्टम स्थान

विश्व एक पहेली

इस विराट विश्व की व्यवस्था का मूल आधार है—गति। इसके अनेकानेक महत्वपूर्ण अंग मानवबुद्धि के द्वारा परिज्ञात हो चुके हैं फिर भी मानव का तर्कशील मस्तिष्क अभी तक विश्व के अनन्त रहस्यों का ठीक तरह उद्घाटन नहीं कर पाया है न इसकी विराट्शक्ति का कोई एक निश्चित माप ही ले सका है। विश्व की सूक्ष्मतम सीमाओं की खोज में उसकी अज्ञात अतल गहराइयों को जानने की दिशा में मानव अनादिकाल से प्रयत्न करता आ रहा है। उसे एक सबसे अज्ञात रहस्य मानकर अथवा अनावश्यक प्रपंच समझ कर वह कभी चुप होकर नहीं बैठा है। शोध की प्रक्रिया निरन्तर चालू रहा है। इसी अज्ञात को ज्ञात करने की धुन में विज्ञान के चरण अनवरत आगे बढ़ते रहे हैं, और वह अनेकानेक अद्भुत रहस्यों को रहस्य की सीमा में से बाहर निकाल भी लाया है। फिर भी अभी तक निर्णयात्मक रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि—विश्व का यह अभिव्यक्त मानचित्र अन्तिम है। इसकी यह इयत्ता है आगे और कुछ नहीं है। सचमुच ही सब साधारण जन-समाज के लिए विश्व एक पहेली है जो कितनी ही बार बूझी जाकर भी अनबूझी ही रह जाता है।

जय अचलासन, शान्ति - सिंहासन
द्वेष - विनाशन, शासन स्यन्दन ।
सन्मतिकारण, कुमति - निवारण
भव - भयहारण, शीतल चन्दन ॥
जय करुणा-वरुणालय जय जय,
जीव सभी करते अभिनन्दन ।
जय सुखकन्दन, दुरित - निकन्दन,
जय जग - वन्दन, त्रिशलानन्दन ॥

विश्व एक पहेली

इस विराट विश्व की व्यवस्था का मूल आधार है—सत अर्थात 'सत्ता'। इसके अनेकानेक महत्वपूर्ण अंश मानवबुद्धि के द्वारा परिज्ञात हो चुके हैं, फिर भी मानव का तकशील मस्तिष्क अभी तक विश्व के अनन्त रहस्यों का ठीक तरह उद्घाटन नहीं कर पाया है न इसकी विराटशक्ति का कोई एक निश्चित माप ही ले सका है। विश्व की सूक्ष्मतम सीमाओं की खोज में उसकी अज्ञात-अतल गहराइयों को जानने की दिशा में मानव अनादिकाल से प्रयत्न करता आ रहा है। उसे एक सर्वथा अज्ञात रहस्य मानकर अथवा अनावश्यक प्रपंच समझ कर वह कभी चुप होकर नहीं बैठा है। शोध की प्रक्रिया निरन्तर चालू रही है। इसी अज्ञात को ज्ञात करने की धुन में विज्ञान के चरण अनवरत आगे बढ़ते रहे हैं और वह अनेकानेक अद्भुत रहस्यों को रहस्य की सीमा में से बाहर निकाल भी लाया है। फिर भी अभी तक निर्णयात्मक रूप से यह नहीं कहा जा सका है कि— विश्व का यह अभिव्यक्त मानचित्र अन्तिम है। इसकी यह इयत्ता है आगे और कुछ नहीं है। सचमुच ही सर्व साधारण जन समाज के लिए विश्व एक पहेली है, जो कितनी ही बार बूझी जाकर भी अनबूझी ही रह जाती है।

स्वयं उसके लिए सर्वतोभावेन निरुद्देश्य है जबकि चेतन की क्रिया शीलता सोद्देश्य है। चेतन का परम उद्देश्य क्या है और वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है इसी विश्लेषण की दिशा में मानव हजारों हजार वर्षों से प्रयत्न करता रहा है। यह चिन्तन यह मनन यह प्रयत्न ही चेतन का अपना स्व विज्ञान है जिसे शास्त्र की भाषा में अध्यात्म कहते हैं अध्यात्म भूमिका ज्योंही स्थिर स्थिति में पहुचती है साधक के अतर में से सहज आनन्द का अक्षय-अजस्र स्रोत फूट पडता है।

चेतन के स्वरूपबोध का मूलाधार

स्थूल दृश्य पदार्थों को आसानी से समझा जा सकता है उनकी स्थिति एव शक्ति का आसानी से अनुमान भी हो सकता है। किन्तु चेतना के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। चेतना अत्यन्त सूक्ष्म तथा गूढ है। दर्शन की भाषा में वह अणोरणीयान् अणु से भी अणु है सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है सूक्ष्मतम है। साधारण मानव-बुद्धि के पास तत्त्व चिन्तन के जो इन्द्रिय एव मन आदि ऐहिक उपकरण है वे बहुत ही अल्प हैं, सीमित हैं। साथ ही सत्य की मूल स्थिति के वास्तविक आकलन में अधूरे हैं अक्षम हैं। चूंकि चेतन – अमूर्त है जबकि इन्द्रियाँ सिर्फ मूर्त को ही देख पाती है—नो इन्दियगेज्झ अमुत्तभावा।" अत इन्द्रिय एव मन आदि के माध्यम से चेतना का स्पष्ट परिबोध नहीं हो पाता है। केवल ऊपर की सतह पर तैरते रहनेवाले भला सागर की गहराई को कैसे जान सकते हैं? जो साधक अन्तर्मुख होते हैं—साधना के पथ पर एक निष्ठा से गतिमान रहते हैं—चेतना के चिन्तन तक ही नहीं अपितु चेतना के अनुभव तक पहुचते हैं—निजानुभूति की गहराई में उतरते हैं, वे ही चेतना के मूलस्वरूप का दिन के उजाले की भाँति स्पष्ट परिबोध पा सकते हैं। उनकी यह प्रत्यक्षानुभूति जन-कल्याण की दिशा में जो शब्दात्मक अभिव्यक्ति का रूप लिया

शब्द-सत्य अनुभूति सत्य

शब्द प्रमाण की, शास्त्र की चर्चा आ गई है, तो प्रस्तुत संदर्भ में एक बात समझ लेनी बहुत आवश्यक है। यह ठीक है कि सत्य के साक्षात्कर्ता महान आत्माओं का अपना प्रत्यक्षानुभव साधारण साधकों को शास्त्र के माध्यम से मार्गदर्शन की दिशा में काफी उपयोगी होता है। परन्तु यह उपयोगिता एक सीमा तक ही है। शब्द प्रमाण पर अधिक निर्भर रहने की मनोवृत्ति साधक को पंगु बना देती है। बैसाखी के सहारे जैसे-तैसे गति तो हो सकती है, किन्तु प्रगति नहीं। वास्तविक प्राप्तव्य तथ्य का बोध दूसरों के शब्द-तंत्र से मानस सागर में उच्छल होने वाली चंद गिनी चुनी परिकल्पनातरंगों या भावनालहरियों पर से नहीं हो सकता है। दूसरों की अनुभूतियों से नहीं किन्तु अपनी ही अनुभूतियों से सत्य का साक्षात्कार होता है। अंध को दूसरों की आँखों का देखा कितना बोध दे पाता है? दूसरों की जीभ का चखा हम कितना रसबोध देता है? और वह बोध होता भी कैसा है? मात्र परोक्ष।

आप जानते हैं प्रत्यक्ष व परोक्ष बोध में अन्तर है बहुत बड़ा अन्तर है। दूसरों की आँखों का देखा भले ही वे आँखें कितनी ही दिव्य क्यों न हों अपने लिए परोक्ष ही हैं। अपनी स्वयं की निर्विकार एवं निर्मल आँखों का देखा ही अपने लिए प्रत्यक्ष है। यही बात रसास्वादन के सम्बन्ध में है। सच्चा ज्ञान स्वयं की अनुभूति में ही जागृत होता है। परनिर्भरता पंगुबुद्धि का लक्षण है। यह एक प्रकार की मानसिक दासता है। एक प्रकार की भिक्षा है। भिक्षा और अर्जन में अन्तर है। ज्ञान की भिक्षा नहीं ज्ञान का अर्जन होना चाहिए। दूसरों की अनुभूतियों पर आधारित शब्द प्रमाण अमुक सीमा तक ही प्रकाश देता है मार्ग दर्शन करता है। आगे का सच्चा मार्ग तो स्वयं की अनुभूति से ही तय करना होता है। स्वयं की अनुभूति को जागृत करने की सहज आन्तरिक प्रक्रिया ही अध्यात्मविद्या है जिसके लिए कहा गया है कि 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम'। अर्थात् सब विद्याओं में अध्यात्मविद्या ही एकमात्र श्रेष्ठ विद्या है।

चेतना के स्वरूपबोध की दिशा में साधक ज्यों ही कुछ आगे बढता है, तो उसके जीवन के विविध व्यवहारों मे से सहज अनुभूति की, प्रत्यक्ष अनुभव की एक निर्मल धारा प्रवाहित होने लगती है। यह साधक की वैयक्तिक अनुभूति की धारा भ्रम नहीं है कोई व्यामोह नहीं है। इसमे सन्देह जैसी कोई स्थिति नहीं है। यह कहना कि साधक की अपनी वैयक्तिक अनुभूतियाँ सही नहीं होती हैं एक मिथ्याप्रवाद है। ज्योति बाहर से अन्दर में नहीं डाली जाती, वह तो हर साधक के अपने अन्दर से प्रज्वलित होती है। हर चैतन्य मे अनुभूति की धारा अन्त सलिला सरस्वती की भांति अनादि काल से प्रवाहित है। अध्यात्म साधना उसे परोक्ष से प्रत्यक्ष मे लाती है, अशुद्ध से शुद्ध बनाती है और उसे सहज आनन्द की ओर उन्मुख करती है।

धर्म, दर्शन और अध्यात्म

धर्म, दर्शन और अध्यात्म का प्राय समान अर्थ में प्रयोग किया जाता है, किन्तु गहराई से विचार करें तो इन तीनों का मूल अर्थ भिन्न है। अर्थ ही नहीं, क्षेत्र भी भिन्न है।

धर्म का सम्बन्ध आचार से है—आचार प्रथमोधर्म। यह ठीक है कि बहुत पहले धर्म का सम्बन्ध अन्दर और बाहर दोनो प्रकार के आचारों से था और इस प्रकार अध्यात्म भी धर्म का ही एक आन्तरिक रूप माना जाता था। इसीलिए प्राचीन जैन ग्रन्थों में धर्म के दो रूप बताए गए हैं—निश्चय और व्यवहार। निश्चय अन्दर में स्व की शुद्धानुभूति एव शुद्धोपलब्धि है जबकि व्यवहार बाह्य क्रियाकाण्ड है बाह्याचार का विधि निषेध है। निश्चय त्रिकालाबाधित सत्य है। वह देश-काल को बदलती हुई परिस्थितियों से भिन्न होता है शाश्वत एव सार्वत्रिक होता है। व्यवहार चूकि बाह्य आचार विचार पर आधारित है अत वह देशकाल के अनुसार बदलता रहता है शाश्वत एवं सार्वत्रिक नहीं होता।

दिनांक तो नहीं बताया जा सकता, परन्तु काफी समय से धर्म अपनी अन्तर्मुख स्थिति से दूर हटकर बहिर्मुख स्थिति में आ गया

है। आज धम का अथ विभिन्न सप्रदायो का वाह्याचार सम्बन्धी विधि निषध ही रह गया है। धम की व्याख्या करते समय प्राय हर मत और पथ के लोग अपने परपरागत विधिनिषध सम्बन्धी क्रियाकाण्डो को ही उपस्थित करते है और उन्ही के आधार पर अपना श्रेष्ठत्व प्रस्थापित करते है। इसका यह अथ है कि धम अपने व्यापक अथ को खोकर केवल एक क्षरणशील सकुचित अथ मे आवद्ध हो गया है। अत आज के मनीषी धम से अभिप्राय—मत पथो के अमुक बँधबँधाय आचार विचार लेते है, इसस अधिक कुछ नही।

दशन का अथ तत्त्वो की मीमासा एव विवचना है। दशन का क्षत्र है—सत्य का परीक्षण। जीव और जगत् एक गूढ पहेली है इस पहेली का सुलझाना ही दशन का काय है। दशन प्रकृति और पुरुष लोक और परलोक आत्मा और परमात्मा दृष्ट और अदृष्ट, मैं 'यह और वह आदि रहस्यो का उद्घाटन करने वाला है। वह सत्य और तथ्य का सही मूल्याकन करता है। दशन वह दिव्य चक्षु है जो इधर उधर की नई पुरानी मान्यताओ के सघन आवरणो का भेदकर सत्य के मूलरूप का साक्षात्कार कराता है। दशन के विना धम अधा है। अधा गतव्य पर पहुचे तो कस पहुच? पथ के टढे मढे घुमाव गहरे गत और आस-पास के घनरनाक झाड झखाड बीच म कही भी अधे यात्री को निगल सकते हैं।

अध्यात्म जो बहुत प्राचीन काल म धम का ही एक आन्तरिक अग था जीवनविशुद्धि का सर्वाङ्गीण रूप है। अध्यात्म मानव की अनुभूति के मूल आधार की खोजता है उसका परिशोधन एव परिष्कार करता है। स्व', जो कि स्वय स विस्मृत है अध्यात्म इस विस्मरण को तोडता है। स्व जो स्वय ही अपने स्व म अज्ञान तमस का 'परतन्त्र बन गया है अध्यात्म इस अधतमस् का ध्वस करता है स्वरूप स्मृति की दिव्यज्योति जगाता है। अध्यात्म अन्दर म सोए हुए चैतन्य को जगाता है उस प्रकाश म लाता है। राग द्वष काम क्रोध मद लोभ मोह के आवरणो को छिन्न करता को हटाकर साधक को उसके अपने शुद्ध 'स्व तक पहुचाता है उस

अपना अन्तर्दर्शन कराता है। अध्यात्म का आरम्भ स्व को जानने और पाने की बहुत गहरी जिज्ञासा से होता है और अन्तत स्व' के पूर्ण बोध म, स्व' की पूर्ण उपलब्धि म इसकी परिसमाप्ति है।

अध्यात्म किसी विशिष्ट पथ या सम्प्रदाय की मान्यताओ म विवेकशून्य अधविश्वास और उनका अन्धअनुसरण नही है। दो चार पाँच परपरागत नीति नियमा का पालन अध्यात्म नही है क्योकि यह अमुक क्रियाकाण्डो की, अमुक विधिनिषेधो की कोई प्रदर्शनी नहा है और न यह कोई देश धर्म और समाज की दश-कालानुसार बदलती रहने वाली व्यवस्था का कोई रूप है। यह एक आन्तरिक प्रयोग है जो जीवन को सच्चे एव अविनाशी सहज आनन्द से भर देता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो जीवन को शुभाशुभ के बन्धनो से मुक्त कर देती है स्व की शक्ति को विघटित होने से बचाती है। अध्यात्म जीवन की अशुभ शक्तियो का शुद्ध स्थिति म रूपान्तरित करने वाला अमोघ रसायन है, अत यह अन्तर की प्रसुप्त विशुद्ध शक्तियो का प्रबुद्ध करने का एक सफल आयाम है। अध्यात्म का उद्देश्य औचित्य की स्थापना मात्र नही है प्रत्युत शाश्वत एव शुद्ध जीवन के अनन्त सत्य का प्रकट करना है। अध्यात्म कोरा स्वप्निल आदर्श नही है। यह तो जीवन का वह जीता जागता यथार्थ है जो 'स्व को 'स्व पर केन्द्रित करने का, निज को निज म समाहित करने का पथ प्रशस्त करता है।

अध्यात्म का धर्म से अलग स्थिति इसलिए दी गई है कि आज का धर्म कोरा व्यवहार बन कर रह गया ह बाह्याचार के जगल म भटक गया ह जबकि अध्यात्म अब भी अपने निश्चय के अथ पर समारूढ ह। व्यवहार बहिर्मुख होता है और निश्चय अन्तर्मुख। अन्तर्मुख अर्थात स्वाभिमुख। अध्यात्म का सर्वेसर्वा स्व ह—चैतन्य ह। परम चैतन्य के शुद्ध स्वरूप की ज्ञप्ति और प्राप्ति ही अध्यात्म का मूल उद्देश्य ह। अतएव अध्यात्म जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भावात्मक स्थिति ह निषेधात्मक नही। परिभाषा की सक्षिप्त भाषा म कहा जाए तो अध्यात्म जीवन के स्थायी मूल्य

। आज धम का अथ विभिन्न सम्प्रदायो के बाह्याचार सम्बन्धी विधि निषेध ही रह गया है। धम की व्याख्या करते समय प्राय मत और पथ के लोग अपने परम्परागत विधिविधान सम्बन्धी क्रियाकाण्डो को ही उपस्थित करते है और उन्ही के आधार पर अपना श्रेष्ठत्व प्रस्थापित करते है। इसका यह अथ है कि धम अपने व्यापक अथ का खोकर केवल एक क्षरणशील सकुचित अथ मे आबद्ध हो गया है। अत आज के मनीषी धम से अभिप्राय—मत या के अमुक बधेबधाये आचार विचार लेते हैं इसस अधिक कुछ नही।

दशन का अथ तत्त्वो की मीमासा एव विवेचना है। दशन का अथ है—सत्य का परीक्षण। जीव और जगत् एक गूढ पहेली है, इस पहेली को सुलझाना ही दशन का काय है। दशन प्रकृति और स्वरूप लोक और परलोक आत्मा और परमात्मा दृष्ट और अदृष्ट, मैं यह' और 'वह आदि रहस्यो का उद्घाटन करने वाला है। वह सत्य और तथ्य का सही मूल्याकन करता है। दशन वह दिव्य चक्षु है जो इधर उधर की नई पुरानी मान्यताओ के सघन आवरणो को भेदकर सत्य के मूलरूप का साक्षात्कार कराता है। दशन के विना धम अन्धा है। अन्धा गन्तव्य पर पहुच तो कैसे पहुचे ? पथ के टेढे मेढे घुमाव गहरे गत और आस-पास की खतरनाक झाड झखाड बीच म कही भी अन्धे यात्री को निगल सकते हैं।

अध्यात्म, जो बहुत प्राचीन काल म धम का ही एक आन्तरिक अग था, जीवनविशुद्धि का सर्वाङ्गीण रूप है। अध्यात्म मानव की अनुभूति के मूल आधार को खोजता है, उसका परिशोधन एव परिष्कार करता है। 'स्व' जो कि 'स्वय स विस्मृत है, अध्यात्म इस विस्मरण को तोडता है। स्व जो स्वय ही अपने स्व के अज्ञान तमस का शरणस्थल बन गया है अध्यात्म इस अन्धतमस को ध्वस्त करता है, स्वरूप स्मृति की दिव्यज्योति जलाता ह। अध्यात्म अन्दर मे सोये हुए ईश्वरत्व को जगाता है, उसे प्रकाश म लाता है। राग द्वेष, काम, क्रोध मद लोभ, मोह के आवरणो की गदी परतो को हटाकर साधक को उसके अपने शुद्ध 'स्व तत्व' पहुचाता है उसे

अपना अन्तर्दर्शन कराता है । अध्यात्म का आरम्भ स्व को जानने और पाने की बहुत गहरी जिज्ञासा में होता है और अन्ततः 'स्व' के पूर्ण बोध में, 'स्व' की पूर्ण उपलब्धि में इसकी परिसमाप्ति है ।

अध्यात्म किसी विशिष्ट पंथ या संप्रदाय की मान्यताओं में विवेकशून्य अंधविश्वास और उनका अंधानुसरण नहीं है । दो चार पाँच परंपरागत नीति नियमों का पालन अध्यात्म नहीं है क्योंकि यह अमुक क्रियाकाण्डों की अमुक विधिनिषेधों की कोई प्रदर्शनी नहीं है और न यह कोई देश धर्म और समाज की देश-कालानुसार बदलती रहने वाली व्यवस्था का कोई रूप है । यह एक आन्तरिक प्रयोग है जो जीवन को सच्चे एवं अविनाशी सहज आनन्द से भर देता है । यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवन को शुभाशुभ के बंधनों से मुक्त कर देती है स्व की शक्ति को विघटित होने से बचाती है । अध्यात्म जीवन की अशुभ शक्तियों का शुद्ध स्थिति में रूपान्तरित करने वाला अमोघ रसायन है अतः यह अंतर की प्रसुप्त विशुद्ध शक्तियों को प्रबुद्ध करने का एक सफल आयाम है । अध्यात्म का उद्देश्य औचित्य की स्थापना मात्र नहीं है प्रत्युत शाश्वत एवं शुद्ध जीवन के अनन्त सत्य को प्रकट करना है । अध्यात्म कोरा स्वप्निल आदर्श नहीं है । यह तो जीवन का वह जीता जागता यथार्थ है जो स्व को स्व पर केन्द्रित करने का निज को निज में समाहित करने का पथ प्रशस्त करता है ।

अध्यात्म का धर्म से अलग स्थिति इसलिए दी गई है कि आज का धर्म कोरा व्यवहार बन कर रह गया है बाह्याचार के जंगल में भटक गया है, जबकि अध्यात्म अब भी अपने निश्चय के अर्थ पर समारूढ़ है । व्यवहार बहिर्मुख होता है और निश्चय अन्तर्मुख । अन्तर्मुख अर्थात् स्वाभिमुख । अध्यात्म का सर्वेसर्वा स्व है—चैतन्य है । परम चैतन्य के शुद्ध स्वरूप की ज्ञप्ति और प्राप्ति ही अध्यात्म का मूल उद्देश्य है । अतएव अध्यात्म जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भावात्मक स्थिति है निषेधात्मक नहीं । परिभाषा की संक्षिप्त भाषा में कहा जाए तो अध्यात्म जीवन के स्थायी मूल्य

दो

साधना के अग्निपथ पर

तीर्थंकर महावीर

भूमिका कुछ लम्बी हो गई, पर कोई बात नहीं। जो अभी वक्तव्य क्षेत्र में है उसकी पृष्ठभूमि के लिए इतना कुछ आवश्यक भी था। अध्यात्म साधना के क्षेत्र में अनेकानेक साधक हो गए हैं जिनकी जीवन गाथाएँ आज भी साधकों के लिए प्रेरणा का स्पन्दन का उद्घोष कर रही हैं। हमारे वे महान् साधक क्या थे, वे किस पथ पर आगे बढ़, उनकी यात्रा कैसी और क्या रही, आखिर उन्होंने कब, कैसे क्या पाया? उक्त सब प्रश्नों का समाधान उन प्राचीन जीवनगाथाओं से सहज ही मिल सकता है। यह ठीक है कि वे पुरानी जीवनगाथाएँ काल की बदलती हुई धूलभरी हवाओं से काफी धुँधली हो गई हैं उन पर श्रद्धा भक्ति के नाम पर इधर-उधर के अन्धविश्वासों की बहुत अधिक धूल जम चुकी है, कुछ तो अपना मूल अर्थ ही खो बैठी है। परन्तु सत्यदृष्टि का साधक यदि अपने शुद्ध विवेक से कुछ भी काम ले शब्दों के अन्दर छिपे हुए मूल भाव को ग्रहण करने का प्रयत्न करे और साम्प्रदायिक मान्यताओं के अभिनिवेश से मुक्त होकर शुद्ध सत्य का दर्शन करना चाहे तो आज भी दिव्य जीवन के निर्माण के लिए उन जीवनगाथाओं में महत्त्वपूर्ण दिशाबोध मिल सकता है।

महाश्रमण तीर्थंकर महावीर अपने युग के एक ऐसे ही अध्यात्म वादी साधक थे। शुद्ध सत्य की खोज में उन्होंने प्राप्त भोग विलासों को ठुकरा कर साधना का वह अमरपथ अपनाया जो हजारों हजार, लाखों लाख साधकों के लिए एक दिव्यज्योति बन गया। आइए, उस महान साधक के चरण चिह्नों को दृष्टिगत कर साधना पथ का रहस्य उदघाटित करें।

वैशाली का राजकुमार वर्धमान

आज से लगभग २५ सौ से कुछ अधिक वर्ष पहले की बात है।[1] भारत के पूर्वाञ्चल में वैशाली का गणराज्य तत्कालीन संपूर्ण भारत में अपने ऐश्वर्य के शिखर पर था। इसी वैशाली गणराज्य के सुखी एवं समृद्ध नागरिकों के लिए एक बार बुद्ध ने कहा था—देवताओं को देखना हो तो वैशाली के नागरिकों को देख सकते हो। वस्तुतः वैशाली गणराज्य में उस समय धरती पर स्वर्ग ही उतर आया था। वैशाली गणराज्य के महाराजा आज की भाषा में राष्ट्रपति, चेटक थे जो आचार्य जिनदास महत्तर के लेखानुसार महावीर के सगे मामा थे।[2]

वैशाली का एक प्रमुख उपनगर क्षत्रियकुण्ड था, जहाँ ज्ञातृ गणराज्य के तत्कालीन राजा सिद्धार्थ क्षत्रिय शासन करते थे। इनकी प्रिय पत्नी त्रिशला क्षत्रियाणी थी। महावीर इनकी तीसरी संतान थे। महावीर का पारिवारिक नाम वर्धमान था। वीर महावीर और सन्मति आदि नाम बाद में कर्मानुसार सर्व साधारण में प्रचलित हो गए। नन्दीवर्द्धन महावीर के बड़े भाई थे, और सुदर्शना बड़ी बहन। महावीर का विवाह राजकुमारी यशोदा से हुआ था। प्रियदर्शना महावीर की इकलौती संतान थी यथानाम तथागुण। श्वेताम्बर दिगम्बर परम्परा के परिभेद से ऊपर के परिचय में कुछ हेरफेर भी हो जाता है। खासकर दिगम्बर सम्प्रदाय को महावीर का विवाह होना स्वीकृत नहीं है। वास्तव में ये उलट फेर कुछ खास बात नहीं हैं। हम यहाँ महावीर की जीवनगाथा का

---

१ ६ पृ० ५२७।

२ दिगम्बर आचार्य गुणभद्र आदि चेटक को महावीर का नाना मानते हैं।

ऐतिहासिक विश्लेषण नही कर रहे है। हमारा विवेच्य है महावीर की साधना का अध्यात्मपक्ष। यह सब वणन तो मात्र पृष्ठभूमि के रूप मे सव साधारण का एक सामान्य जानकारी के लिए किया जा रहा है।

महावीर के जीवन के प्रथम तीस वप ऐश्वय एव सुख-समद्धि के नन्दन कानन म गुजरे। जीवन यात्रा के पथ मे कदम कदम पर पुष्प बिछे थे, काटा का कही नामोनिशान नही था। परिजन पुरजन एव अन्य स्नेही जनो के निमल स्नेह का छलकता प्रवाह था जिसका दूसरा उदाहरण मिलना मुश्किल है। एक राजकुमार का बचपन से लेकर यौवन के प्रागण तक खिलते-महकते कमलपुष्प के समान कितना सुन्दर सुखद एव उल्लासमय जीवन हो सकता है हर कोई व्यक्ति इसकी सहज ही कल्पना कर सकता है।

साहसी वधमान

पुराने कथाग्रन्थो मे महावीर के बाल्य काल की कुछ घटनाओ का उल्लेख मिलता है जिनसे पता चलता है कि वे बचपन से ही बडे साहसी एव निर्भीक थे। भय आशका दब्बूपन उन्हे छू तक नही गए थे। वे राजमहल के सुख सुविधा से भरे पूरे स्वणकक्षा म बद्ध नही रहते थे। मुक्त मन से इधर उधर घूमना खेलना और यथा प्रसग अनेकविध क्रीडाओ का आयोजन करना उन्हे पसद था। अपने स्नेही सगी साथियो के साथ जिनमे आस-पास के सभी छोटे बडे परिवारो के हमउम्र बालक होते नगर से बाहर दूर वनो म घूमने चल जाते और खेलते रहते। एक बार उद्यान मे कही खेलते हुए उन्होने एक भीषण फुकार मारते काले नाग को क्रीडाक्षेत्र से उठाकर दूर फेंक दिया था, जबकि साथ के अन्य बालक भय से चीखने-चिल्लाने लगे थे, उनमे बुरी तरह से भगदड मच गई थी। किन्तु वधमान तो बिल्कुल निभय थे।

एकबार ऐसे ही वन म खेलते समय एक देव ने बडा भयकर रूप धारण कर महावीर को डराना चाहा, साथ के साथी डरे भी। किन्तु महावीर महावीर थे वे डरते कसे? उन्होने अपने अभय से साहस से उस दानवाकृति देव को परास्त कर दिया। इस प्रकार

महावीर की साहस गाथाएं पुराने चरित्र ग्रन्थों में जो अंकित हैं, वे युगान्तर तक अभय, साहस एवं शौर्य की प्रेरणास्रोत रही हैं और रहेंगी।

शिक्षा दीक्षा

शिक्षण के लिए उन्हें तत्कालीन एक प्रसिद्ध गुरुकुल में प्रविष्ट किया गया परन्तु वहाँ का वातावरण उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सका। महावीर की जिज्ञासा कुछ और थी जिसका वहाँ कोई समाधान नहीं था। बाहर से थोपी गई शिक्षा-दीक्षा में उन्हें रुचि नहीं थी। जो स्वयं प्रकाश होता है उसे बाहर के अन्य प्रकाश की क्या अपेक्षा? वे तो विकास के हर क्षेत्र में अन्दर से स्वयं अंकुरित होने वाले शक्तिबीज थे। कथाकार कहते हैं कि उन्होंने बचपन में ही देवराज इन्द्र की जटिल शंकाओं का तर्कसंगत समाधान किया था। कुछ भी हो इसका इतना अर्थ तो अवश्य है कि महावीर जन्मजात प्रतिभा के धनी थे। उनके मन मस्तिष्क सचेतन थे। वे हर किसी उलझे हुए प्रश्न पर अपनी ओर से उचित समाधान प्रस्तुत कर सकते थे।

बचपन और किशोर अवस्था के बाद उनका जीवन किन राहों से गुजरा इस सम्बन्ध में कोई विशिष्ट उल्लेख कथासाहित्य में अंकित नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य उनके विवाह की बात करते हैं और एक पुत्री होने की भी। अपने राष्ट्र की विकास योजनाओं में उन्होंने क्या किया सर्वसाधारण जनता के अभावों एवं दुःखों को दूर करने की दिशा में उन्होंने अपना क्या पराक्रम दिखाया राष्ट्र की सीमाओं पर इधर उधर से होने वाले आक्रमणों के प्रतीकार में उनका क्या महत्त्वपूर्ण योगदान रहा ऐसे कुछ प्रश्न हैं जिनका महावीर के जीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध जुड़ा है किन्तु महावीर के लिखित जीवन चरित्रों में इनका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता यद्यपि एक प्रबुद्ध साहसी, तेजस्वी एवं दयाशील राजकुमार के जीवन में प्रायः ऐसा घटित हुआ करता है। हम यह नहीं मान सकते कि महावीर के जीवन में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ हो, महावीर सहजतया प्राप्त अपने वैयक्तिक सुखोपभोगों की धारा में ही बह

गए हो और लोकमंगल जैसा कुछ भी न कर पाये हो। प्राचीन कथाकारों की, खासकर श्रमण कथाकारों की रुचि कुछ भिन्न रही है। वे प्रथम सांसारिक सुख समृद्धि की तत्पश्चात तप-त्याग की और कुछ इधर-उधर के दैवी चमत्कारों की बातों का ही अधिक महत्त्व देते हैं उन्हीं की लम्बी चौड़ी कहानियाँ लिखते हैं भले ही वे विश्वास की सीमा से कुछ दूर क्या न चली जाएँ। उनकी दृष्टि थी कि महावीर राजकुमार थे, अतः उन्होंने अपने देश और समाज के लिए ऐसा जो कुछ भी किया, यह उनका अपना कर्तव्य था उसका भला क्या लिखना क्या जिक्र! हाँ, तो तीस वर्ष तक के इतने दीर्घ समय तक तरुणाई के उद्दीप्त दिनों में, उस महान् साधक ने क्या किया हमारे लिए अभी कुछ कहना कठिन है। किन्तु जीवन के पूर्ण मध्याह्न में सुख-सुविधा एवं ऐश्वर्य से उच्छल मदमाती तरुणाई में गृहत्याग हर किसी प्रबुद्ध विचारक को महावीर की तत्कालीन मानसिक स्थिति की एक परिकल्पना अवश्य दे देता है जिससे आँख बचाकर या यों ही बगल काटते हम आगे चल नहीं सकते हैं। एक तरुण को जो कुछ चाहिए वह सब उपलब्ध है, स्वर्ण सिंहासन है, राजप्रासाद है सुन्दर स्नेहशील पत्नी है। अपने प्राणों से भी कहीं अधिक प्यार करने वाले बन्धु हैं, ऐश्वर्य है सुख है जयजयकार है और है पूर्ण स्वस्थ तथा सशक्त तन और मन! फिर क्या बात है, जो भरी तरुणाई में वह सब कुछ छोड़कर चल पड़ता है अकेला ही, भयाकुल सूने वनों की ओर, गहन गिरिगुहाओं एवं गगन भेदते गिरि शिखरों की ओर!

गृहत्याग की प्रेरणा!

मानव के व्यक्तिगत जीवन में आस-पास के लोक जीवन में तन की व्याधि मन की आधि जन्म जरा मरण आकस्मिक दुःख और संघर्ष इतने प्रबल तथ्य हैं कि कोई भी जागृत मस्तिष्क इन सब बातों पर कुछ सोचे बिना रह नहीं सकता। अनेक बार इनसे मुक्ति पाने के लिए सरल मार्ग खोज लिए जाते हैं, प्रतीकार के मन चाहे साधन जुटा लिए जाते हैं और कुछ क्षणों के लिए मानव इस भूल भुलैया में अपने को भुला भी देता है किन्तु ये सब प्रयत्न और प्राप्य कितने थोथे हैं कितने उथले हुए हैं, यह हर कोई प्रबुद्ध मनीषी

समझ सकता है। कुछ क्षणों के भौतिक विश्राम तात्कालिक दुःखों से मुक्ति के उपाय अवश्य हैं, किन्तु स्थायी नहीं। दुःखमुक्ति के वास्तविक साधन कुछ और ही है।

जीवन महत्त्वपूर्ण है। उसका कार्य विशिष्ट प्रयोजन है। यह मात्र ही केवल जन्म-जरा मरण के, आधि-व्याधि के फन्दों और कष्टों में नष्ट होने के लिए नहीं है और न भोग वासना की दुर्गन्धभरी अंधेरी गलियों में भटकने के लिए ही है। उसका कोई महान उद्देश्य है। उसकी सम्प्राप्ति के बिना जीवन अधूरा है। विषयों के कीड़ा-स बुलबुलाता जीवन भी क्या जीवन? जीवन की निर्विकार पवित्रता एवं अनन्त सत्य की उपलब्धि ही जीवन का महान उद्देश्य है एक मात्र लक्ष्य है। उसकी पूर्ति का मार्ग खोजना प्रबुद्ध चिन्तनशील साधक के लिए अनिवार्य है। महावीर के अन्तर्मन में उसी की तीव्र अभीप्सा थी। महावीर के अन्तर्मन में उसे प्राप्त करने के लिए सब कुछ स्वाहा कर देने की तत्परता मचल रही थी। महावीर को लग रहा था, जो जीवन में स्थायी एवं निर्विकार आनन्द नहीं दे सकते, उन साधनों के साथ आँख बन्द कर भागते रहने का आखिर क्या अर्थ है? जिनके बहुत गहरे अन्तर में परम सत्य एवं परम आनन्द को प्राप्त करने की तीव्रतम अभीप्सा जागृत हो जाती है उन्हें ऊपरी सुख-सुविधाएँ सन्तुष्ट भी तो नहीं कर सकता। परिवार के रागात्मक हाव भाव, आर्थिक समृद्धि एवं भोग विलास के मुक्त साधन जीवन का अन्तरंग समाधान देने में समर्थ नहीं हैं। लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में यदि किसी जीवन की गति नहीं है तो वह जीवन एक भटका हुआ आवारा जीवन है। लक्ष्यहीनता के कारण जीवन खण्ड खण्ड में विभक्त हो जाता है। निरुद्देश्यता अन्ततोगत्वा निरर्थकता को, भटकाव को जन्म देती है। महावीर के चिन्तन में यह स्थिति स्पष्ट थी।

स्व की उपलब्धि और स्वनिष्ठ आनंद की खोज ही महावीर के चिन्तन का उद्देश्य था। यही एक प्रेरणा थी जो उन्हें अपना चलता आया जीवन पथ बदलने के लिए विवश कर रही थी। यह प्रेरणा उन्हें किसी दूसरे से तथाकथित किसी धर्मोपदेशक से नहीं मिली। उन्हें किसी ने प्रेरित एवं निर्देशित नहीं किया। यह प्रेरणा उनके

स्वय के अन्दर की गहराई से उद्भूत थी। महावीर की यह सहज अन्त प्रेरणा ही भविष्य की उनकी समस्त उपलब्धियो का मूलाधार है।

गृहत्याग का कारण जीवन के प्रति उनकी उदासीनता नही था जैसा कि प्राय कुछ साधको मे हो जाया करती है। न परिवार के प्रश्नो को लेकर कोई उदविग्नता थी, और न अन्य कोई सामाजिक असन्ताप ही। किसी व्यक्तिगत दुख या कुठा के कारण घर छोडा हो, ऐसा भी कुछ नही है। व मन से लेकर तन तक परिवार से लेकर राज्य तक खूब प्रसन्न थे, चिन्ताओ से मुक्त थे। उनके समक्ष ऐसी कभी कोई स्थिति नही आई कि उन्होने कुछ चाहा हो, और वह उन्हें न मिला हो। मूल बात यह थी कि अन्दर बाहर सुख-समृद्धि के नाम पर सब कुछ था। फिर भी भीतर मे एक रिक्तता थी। यह रिक्तता भौतिक नही आध्यात्मिक थी। बाहर मे चुधिया देनेवाला प्रकाश होने पर भी अन्दर मे वही अधकार छिपा था। और कोई समस्या नही थी समस्या थी केवल एक और वह यह कि आनन्द का भीतरी स्रोत अवरुद्ध था। और इस सहज आनन्द के अभाव मे सब कुछ होने पर भी कुछ भी नही था। यह उनका अपना एक व्यक्तिगत प्रश्न ही नही था वरन प्रश्न था समूचे जन जीवन का।

चैतन्य—स्वरूपत एक अखण्ड है। अत जो एक के लिए है वह सबके लिए है और जो सब के लिए है वह एक के लिए है। व्यष्टि के विकास के साथ समष्टि के विकास मे योगदान ही तीर्थकरत्व की अभिसिद्धि है। महावीर मे ऐसे ही स्व-पर कल्याणकारी तीर्थकरत्व की ज्योति प्रदीप्त होने को थी। अत निश्चित ही स्व-पर मे अवरुद्ध हुए इसी आनन्द स्रोत को मुक्त करने के लिए महावीर ने गृहत्याग किया। महावीर के गृहत्याग का यही एक हेतु था—स्व पर के अनन्त चैतन्य को जगाने का अनन्त आनन्द के स्रोत का मुक्तद्वार करने का। इसी भाव को आध्यात्मिक भाषा मे यदि और अधिक स्पष्टता से कहा जाए तो कह सकते हैं—उक्त हेतुओ की छाया मे महावीर का गृहत्याग हो गया। करने और होने मे अन्तर है। होने मे सहजता है अनाग्रहता है और करने मे कुछ न कुछ आग्रह की हठ की ध्वनि है। महान् साधको का साधनाक्रम सहज होता है और होता है

निर्जन एकांत अच्छा होता है। एकांत शांत प्रदेश में लक्ष्य केन्द्रित होना आसान है। अच्छे-बुरे वातावरण का प्रभाव मन पर प्रायः पड़ता ही है। अतः सामान्य साधक सत्य की खोज में एकान्त का आश्रय लेते हैं। महावीर ने भी यही पथ अपनाया और उसमें वे सफल भी हुए। किन्तु, यह एकान्त वातावरण स्वरूपोपलब्धि की एकाग्रता का अनिवार्य अंग नहीं है। कभी-कभी असावधान साधक एकान्तता के आग्रह में भटक भी जाते हैं। और कभी-कभी घर में रह कर ही सब कुछ पाने का आग्रह रखने वाले साधक भी कुछ नहीं प्राप्त कर पाते। असली बात अपने मन की तैयारी की है। दोनों ही स्थितियाँ विभिन्न परिस्थितियों में एक ही सत्य को प्रकट करती है। यही कारण है कि इतिहास के पृष्ठों पर दोनों ही प्रकार के उदाहरण उपलब्ध हैं।

एक बात और है जो साधक के लिए विचारचर्चा का विषय बन जाती है महावीर के सम्बन्ध में भी यह चर्चा उठती है। घर क्यों छोड़ा जाए? परिवार के दायित्वों से अपने को अलग क्यों किया जाए? यह प्रश्न है जो घर छोड़नेवाले साधकों को लेकर जब तब किया जाता रहा है। कुछ अधिक उद्धत व्यक्ति तो ऐसे साधकों को भगोड़ा की संज्ञा भी देने लगते हैं। किन्तु ऐसा सोचना या कहना क्या सही है? क्या महावीर भी अपने प्राप्त दायित्वों से पिंड छुड़ाने वाले भगोड़े ही थे? क्या बुद्ध भी इसी कोटि के थे—गैर जिम्मेदार? जवाबदेही से भाग खड़े होने वाले? नहीं, ऐसी बात नहीं है। परिवार का पति-पत्नी और बाल बच्चों का दायित्व, अमुक सीमा तक एक महत्व रखता है। किन्तु कभी-कभी जीवन में वे महत्त्वपूर्ण प्रसंग भी आते हैं जबकि दायित्वों की ये क्षुद्रसीमाएँ अपने आप टूट जाती हैं क्या राष्ट्ररक्षा के लिए युद्ध के मोर्चे पर जूझ मरने वाला वीर युवक या अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध संघर्षरत प्राणों का बलिदानी तरुण भगोड़ा कहा जा सकता है? परिवार का प्राणप्रिया पत्नी और अबोध बाल बच्चों का मोह त्याग कर किसी और बड़े आदर्श के लिए संघर्ष का विकट पथ अपनाना प्राप्त सुख सुविधाओं को ठुकरा कर कठोर एवं लोमहर्षक आफतों को सहना, भगोड़ापन नहीं है किन्तु वीरता है, बलिदानी भावना है।

इतिहास के पृष्ठों पर ऐसे गिने चुने विरले ही वीर होते हैं, जो ऐसा बलिदान करते हैं। सत्य के शोधक महावीर ऐसे ही तेजस्वी वीर पुरुष थे। तीस वर्ष की मदभरी जवानी में, जब किसी तरुण की आँख भाग्य से ही खुली मिल सकती है, ऐश्वर्य और रागरंग के स्वर्ण सिंहासन छोड़ देना कोई हँसी खेल नहीं है। अन्दर के सत्य की आवाज जब किसी को कुछ करने के लिए पुकारने लगती है, तो ये पारिवारिक दायित्व आदि के छोटे मोटे गणित कुछ काम नहीं करते हैं। इधर उधर के राग से उभरे आँसू और ताखी आलोचनाओं से जलते भुनते वचन सत्य के सच्चे शोधक को मार्ग से रोक नहीं पाते हैं। ऐसे अवसरों पर प्राय पारिवारिक तथा सामाजिक दायित्वों की अवहेलना होती ही है, परम्परागत मर्यादाओं का आधार टूटती ही है। महावीर भी इसके अपवाद नहीं थे। उनके अन्तर में सत्य की वह ज्वाला जगी कि उसमें उनके अन्तर वैराग्य के गुण्डाभाग एवं पारिवारिक मोह ममत्व सब जलकर भस्म हो गए और वे वन के मस्ती से झूमते सत्य का तराना गाते साधना के अग्निपथ पर।

●●

तीन

दिव्य साधकजीवन

चला अकेला,

खुद हा गुरु, खुद हो चेला !

राजकुमार वधमान श्रमण हा जाते हैं भिक्षु बन जाते हैं। प्रश्न है किसके उपदेश से और किसके पास ? उत्तर है—किसी का उपदेश नही, किसी के पास नही ! बस, अपना ही उपदेश और अपने ही पास। जनदर्शन की भाषा म वे स्वयसम्बुद्ध हैं खुद ब खुद जागृत होनेवाले। और वदिकदर्शन की भाषा म स्वयभू हैं अपने आप अपने से हानेवाले। महावीर स्वय अपने निर्माता हैं स्वय अपनी निर्मिति है स्वय अपने कर्त्ता हैं, स्वय अपनी कृति हैं। स्वय अपने शासक है स्वय अपने शासित ह। साधना की भाषा म खुद ही अपने आज्ञादाता गुरु ह और खुद ही आज्ञाकारी चेला ह। उन्होंने किसी गुरु के पास दीक्षा नही ग्रहण की। जन इतिहासकार कहते ह—भगवान महावीर का परिवार जन परम्परा के तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का अनुयायी था। महावीर सहज ही पार्श्वपरम्परा म दीक्षित हो सकते थे। प्रश्न है क्या नही हुए ? रहस्य इसका कुछ और भी हो सकता है। परन्तु जहा तक हम समझते हैं—महावीर पहले के किसी साम्प्रदायिक विचाराग्रह मे

प्रतिबद्ध होना नहीं चाहते थे। चूंकि उनकी दृष्टि में पूर्वपरम्पराओं की उपयोगिता देशकाल की बदलती हवाओं में क्षीण हो चुकी थी। अतः व्यर्थ ही पहले उन्हें स्वीकृति देना, वचनबद्ध होना और फिर आगे चलकर यथाप्रसंग तोड़ना, उन्हें ठीक नहीं लगा। वे पहले से ही अपना पथ आप खोजने चले। कोई संगी साथी नहीं, अकेले ही।

अपने निर्माता

पर्वत की कठोर चट्टानों को भेद कर बहनेवाले झरने को पहले का बना बनाया पथ कहाँ मिलता है? झरना बहता जाता है और पथ बनता जाता है—पथ बनता जाता है और झरना बहता जाता है। पहले से बने पथ पर बहने वाली तो नहरें होती हैं, निर्झर या नदियाँ नहीं। महावीर भी ऐसे ही अपने साधनापथ के स्वयं निर्माता थे। आज की भाषा में वे लकीर के फकीर नहीं थे। वे आज्ञाप्रधानी साधक नहीं, परीक्षाप्रधानी साधक थे। उनका अन्तर विवेक जागृत था। अतः उन्हें जब जो ठीक लगा वह किया और जब जो ठीक न लगा वह न किया। वे एक-दो बार के किए या न किए के बन्धन में नहीं बंध गए थे। साधना के सम्बन्ध में उनके परीक्षण चलते रहे और वे कभी कुछ पुराना छोड़ते, कभी कुछ नया अपनाते आगे बढ़ते रहे। स्वीकृत विधि निषेधों में उचित लगने पर उन्होंने पूरी ईमानदारी के साथ परिवर्तन किए। अधिक तो नहीं पर प्राचीन साहित्य में ऐसे कुछ प्रसंगों का प्रामाणिक उल्लेख मिलता है। प्रारम्भ में कभी गृहस्थ के पात्र में भोजन कर लेते थे किन्तु बाद में वे उसका परित्याग कर करपात्री बन जाते हैं। एक बार वस्त्राच्छादित शरीर अपना वस्त्र एक याचक दीन ब्राह्मण को दे देते हैं। एक बार वर्षावास चौमासे में ही (वर्षा के दिनों में) अन्यत्र विहार कर जाते हैं। ये कुछ बातें ऐसी हैं जो परम्परागत आचार शास्त्र की दृष्टि से भिक्षु के लिए निषिद्ध हैं। फिर भी महावीर ने ऐसा किया।

कल्पातीत साधक

आज के कुछ तथाकथित आचारवादी शास्त्रज्ञानी महावीर के जीवन चरित्र में से उक्त अंशों को निकाल रहे हैं। उनका कहना है

कि महावीर के ये विधिनिषेध जन आचारशास्त्र से मेल नहीं खाते। उग्र साधनापथ के अविचलयात्री भगवान शास्त्रोक्त साधना के विरुद्ध आचरण करें, ऐसा कसे हो सकता है ? इन शास्त्राग्रही लोगो को मालूम होना चाहिए, महावीर ने किसी सप्रदाय म, किसी गुरु से दीक्षा नही ली थी। वे किसी पुरागत तीथ म शासन म दीक्षित नहीं हुए थे। उनके निणय किसी आचारशास्त्र के आधार पर नही, अपने सहज-स्फूत विवेक के आधार पर होते थे। हम वतमान के शास्त्रा को जिनका सकलन एव निर्माण महावीर के बहुत उत्तर काल म हुआ, महावीर—जसे सुदूर अतीत के महापुरुषा के साथ जोड कर भूल करते हैं। महावीर की साधना किसी भी पूव विचार या शास्त्र आदि स प्रतिबद्ध नही थी। इसीलिए जैनसाहित्य उन्हें प्रारम्भ से ही, प्रव्रज्या ग्रहण के दिन से ही कल्पातीत मानता है। कल्पातीत का अथ है—कल्प से, विधिनिषेध की अमुक सीमाओ म बद्ध शास्त्रीय आचार से अतीत रहना, मुक्त रहना। महावीर की साधनाविधि को तथाकथित किसी भी शास्त्र स जोडा नही जा सकता। उनका साधनापथ न किसी सप्रदाय मे बधा था न किसी गुरु से और न किसी शास्त्र से। वह बधा था उनके अपने अन्दर की स्वतन्त्र अनुभूति से। वे पहले थे, किसी अन्य के खोजे हुए माग पर नही चले अपितु खुद माग खोजते गए चलते गए। जब कही सशोधन की जरूरत हुई तो सशोधन किया बदलने की जरूरत हुई तो बदला।

महावीर की आचार साधना जड नही थी, सचेतन थी। सचेतन साधना गतिहीन नही होती है। साधना की सचेतनता ज्ञान पर आधारित है। इसी सन्दभ म एक सन्त ने कहा है—ज्ञान गुरु है आचार शिष्य है। आचार को अनुभव सिद्ध ज्ञान के शासन म चलना होगा कोरे शास्त्रीय जड शब्दो के शासन म नही। मुक्त चिन्तन ही सत्यान्वेषण का सच्चा साधन है बद्ध चिन्तन नही। किसी ग्रन्थ विशेष या गुरुविशेष को प्रमाण मानने वाला, उनके अनुसार चलने वाला प्राथमिक भूमिका का साधारण साधक हो सकता है तीथकर नही। महापुरुष किसी विशिष्ट विचार पथ के निर्माता या नेता होते हैं सम्प्रदाय के रूप मे चली आई किसी पूर्व विचारपरम्परा के अनुयायी नही।

अतीत के विचारों में से शाश्वत सत्य, जो सदा सबके लिए उपयोगी रहता है ग्रहण किया जा सकता है वह ग्रहण करना ही चाहिए। किन्तु जो सामयिक सत्य तीव्रगति से अतीत की ओर बहते कालप्रवाह में पीछे रह गया है वर्तमान एवं भविष्य के लिए अनुपयोगी हो गया है उसे यों ही पल्ले बाँधे फिरना विवेकहीनता का द्योतक है। महावीर भविष्य के दिव्यत्व की ओर मुक्तगति से उड़ने वाले गरुड़ थे, वे अपने चिन्तन की पंखों को अतीत के किसी क्षुद्र कालिक सत्य के निर्जीव ठूंठ से नहीं बाँध सकते थे। वे उस तीव्र वरत्व की ओर गतिशील थे, जो भविष्य का द्रष्टा एवं स्रष्टा होता है। अतः वे किसी पूर्व सम्प्रदाय के नाम पर गुरु के नाम पर या शास्त्र के नाम पर अतीतजीवी कैसे हो सकते थे ? उन्हें किसी के द्वारा दिया गया भिक्षा का बासी सत्य नहीं चाहिए था। उन्हें चाहिए था अपने निज के पुरुषार्थ से साक्षात्कृत ताजा सत्य। किसी को गुरु न बनाकर स्वयं स्वतन्त्र प्रव्रजित होने में, सम्भवतः यही रहस्य है।

अभय जीवन

महावीर की साधना श्रमण साधना थी। स्वयं के श्रम से साध्य की उपलब्धि। भक्तियोग के नाम पर उपहार या भिक्षा में किसी से कुछ पाना महावीर का जीवनदर्शन नहीं था।

महावीर के कदम सूनी और अनजानी राहों पर दृढ़ता से बढ़ चले। उनके हृदय में सत्य दर्शन के लिए एक तीव्र ज्वाला जल उठी थी, उसी के प्रकाश में महावीर लक्ष्य की ओर बढ़ते चले गए। सर्वथा भयमुक्त जीवन। न स्वयं किसी से कभी डरे न किसी को कभी डराया। उनकी ध्यानयोग की साधना आत्मानन्द की साधना था भय से परे प्रलोभन से परे, राग से परे द्वेष से परे। कभी अनन्त नीलगगन के नीचे हिंस्रजन्तुओं से भरे निर्जन वनों में ध्यानस्थ खड़े होते तो कभी मृत्यु की छाया से आक्रान्त श्मशान भूमि में। कभी गिरि-कन्दराओं में ध्यान लगाते कभी भीमकाय पर्वतों के गगन चुम्बी ऊँचे शिखरों पर। कभी वीरान मरुभूमि में तो कभी कलकल छलछल बहती नदियों के एकान्त तटों पर कायोत्सर्ग मुद्रा में दण्डाय

मान खड हो जाते और महीना ही खड रहते अचल अडिग। न अन्न न जल। शरीर म रहकर भी गरीर से अलग गरीर की अनुभूति म अलग, जीवन की आशा और मरण के भय स विप्रमुक्त[1] जन साधना की भाषा मे इस कायोत्सग कहते हैं। काय का उत्सग, देह का विसजन! अर्थात् अन्तर्लीनता की स्थिति म देहभाव की विस्मृति देह म विदेह भाव, शरीर से सम्बधित माह ममत्व का त्याग। स्व की खोज म लगा साधक स्व का ही स्मृति म रखता है 'पर' को नही।

समत्वयोग की साधना

महावीर का साधनाकाल बडा ही विकट था। उस युग म जन मानस न जाने कसा बन गया था! विश्व हित की दिशा म सवस्व त्यागकर घर से निकले साधक को भी इतनी पीडा! पीडा नही, उत्पीडन ही कहना चाहिए! प्रकृति के कष्टो की बात नही है वे तो थे ही, बात है तत्कालीन अबोध लोगा द्वारा दिये गय कष्टा की, दी गयी यातनाओ की। जन भाषा म इन्हें उपसग कहते हैं। इन उपसर्गों की इतनी रौद्र घटनाएँ हैं कि जिनके श्रवणमात्र से आज हजारों वप बाद भी सहृदय श्रोता का तन काँप-काँप जाता है मन सिहर सिहर उठता है। किन्तु महावीर ऐसे थे कि जसे एक प्रशांत महासागर जिसम कभी कोई तूफान उठता ही नही। मैत्रीभावना का सर्वोच्च आदश! जिसे फूला स ही नही, काँटा से भी प्यार! सतानेवाले के प्रति भी एक सहज करुणा कल्याण की कामना। अपनी पीडा और कष्ट के लिए मनुष्य अनादि काल से दूसरा को शिकायत करता चला आया है। परन्तु महावीर को अपने सतानेवालो से कोई शिकायत नही थी। उनका चिन्तन था—*जो पा रहा हू वह अपना ही किया पा रहा हू। जो भोग रहा हू* वह अपना ही किया भोग रहा हू। दूसरो का कोई दोष नहीं मूलत दोष मेरा ही है। दूसरे किसी के सुख दुख म निमित्त हो सकते हैं कर्त्ता नही। कर्त्ता मनुष्य स्वय ही होता है। और जो कर्त्ता होता है, वही भोक्ता भी तो होगा ही। कर्त्ता कोई भोक्ता कोई—यह नही

---

१ जीवियासामरणभयविप्पमुक्के —भगवती सूत्र

और न अन्य कोई वस्त्र। एक दिन एक याचक आया तो उस वस्त्र का भी आधा भाग उन्होंने उस दे दिया—चलो, आधा ही काम देता रहेगा। महावीर का करुणा से द्रवित सवदनशील हृदय किसी दीन की भावना को कसे ठुकरा सकता था? वस्त्रदान से महावीर के मन म न तो अपनी कोई आवश्यकता—सम्बन्धी ग्लानि हुई और न यही ग्लानि हुई कि समभा भिक्षु को अपनी चीज किसी अन्य असयमी गहस्थ आदि को नही दनी चाहिए, किन्तु मैंन दे दी क्या दे दो? वस्त्रखण्ड देन समय भी व निर्विकल्प थे और बाद म भी। उनका चिन्तन सर्वात्मना स्वतन्त्र चिन्तन था। उनके निणय अन्तर की अनुभूति मे होते थे श्रुतिपरपरा के शास्त्रीय विधिनिषेधा से नही। उनकी आवाज अन्तर की आवाज थी जो सत्य के अधिक निकट होती थी। आगे चलकर वह आधा वस्त्र भी हवा के झाके से उडकर बगल के झाड मे उलझ जाता है और वह अधवस्त्रग्राही याचक उसे भी उठा लेता है। महावीर ने इस पर कुछ कहा नही, वस्त्र मांगा नही। मागना तो दरकिनार फिर वस्त्र चाहा ही नही। तब से अचेल हो गए, सवथा निवस्त्र अर्थात नग्न। यह साधना की निस्पहता का अनासक्ति का वह दिव्य रूप है जो भविष्य के लिए उदाहरण बन गया। सच्चा साधक हा और ना के फेर म नही पडता। है तब भी खुशी। नही है तब भी खुशी। इसका या उसका बन्धन क्या? मिला तब ठीक। न मिला तब भी ठीक। पास म कुछ रहा तब ठीक पास म कुछ न रहा तब भी ठीक।

विष अमृत बन गया

महावीर साधनापथ पर अकेले चल रहे थे। कोई सगी साथी नहा। एकाकीपन और वह भी अनजानी सूनी राहा पर! बडे-से बडे साहसी के साहस को भी तोड देता है ऐसा एकाकीपन! मानव के लिए ता सचमुच ही एकान्त और एकाकीपन कारावास से भी कही अधिक घुटन की स्थिति रखता है। किन्तु महावीर असा धारण थे। उन्हे यह एकान्त निजनता या अकेलापन कभी भी खलता नहा था अपितु व उस स्थिति में निर्द्वन्द्वता की एक विलक्षण आनन्दानुभूति करत थे।

एक बार की बात है कि महावीर ऐसे ही एकाकी किसी उजड़ वीरान प्रदेश की ओर मंद मंथर गति से चले जा रहे थे। लोगों ने उन्हें देखा तो रोका—इधर कहाँ जा रहे हैं? मालूम होता है तुम्हें इधर का कुछ पता नहीं है। दूर कहीं से आये हो। इधर आगे उजड़ प्रदेश में बड़ा ही भयंकर विषधर नाग रहता है। भूल से यदि कोई चला जाता है तो खैर नहीं। कोई उससे बच नहीं सकता। वह दृष्टिविष सर्प है। काटना तो दूर? बस, उसने क्रुद्ध दृष्टि से जरा देखा नहीं कि क्षण भर में मृत्यु।

लोग रोकते रहे किन्तु महावीर रुके नहीं आगे बढ़ते ही गए। ऐसी घटना प्रसंगों पर मनुष्य रुकता है लौटता है—भय से। और भय उन्हें छू भी नहीं पाया था। और तो क्या, मृत्यु का भय भी उन्हें विचलित नहीं कर सकता था। प्रश्न है, ऐसा क्यों हुआ? क्या वे अपनी अहिंसा और करुणा का अपने अभय और प्रेम का परीक्षण करना चाहते थे? क्या इस प्रकार जानबूझ कर मृत्यु के द्वार पर खड़े होकर वे अपने प्राणिमात्र के प्रति मैत्री के दिव्य सिद्धान्त का विषधर पर प्रयोग करना चाहते थे? क्या रागद्वेष आदि की अपनी आन्तरिक वृत्तियों का निरीक्षण करना चाहते थे कि वे क्या हैं, कैसी हैं, किस स्थिति में हैं? दब गई या क्षीण ही हो गई हैं? उभरती हैं या नहीं उभरती हैं? विकार के हेतु होने पर भी विकार न आए यही तो साधना की सफलता है। आग से दूर रहकर न जले तो क्या चमत्कार हुआ? चमत्कार तो तब है जब दावानल में छलांग लगा दें किन्तु जलने का अनुभव तक न हो। निश्चित रूप से यही कुछ रहा होगा, महावीर के अन्तर्मन में।

हाँ तो महावीर चण्डकौशिक सर्प के बिल पर जाकर खड़े हो गए। किसी [illegible] से नहीं! मैत्री और करुणा की धारा उनके अन्तर में बह रही थी। वे स्वयं देखना चाहते थे कि धारा का वेग कैसा है कितना है? सर्प बिल से बाहर आया। भीषण फुंकार! करुणा में [illegible]। सर्प तन और तन [illegible] हो में विष उगल रहा था। और महावीर? महावीर विष के बदले अमृत बरसा रहे थे। कहीं कोई भी कोई प्रतिक्रिया नहीं। पूर्ण अभयमुद्रा! विशुद्ध

मत्री ! विशुद्ध करुणा ! महावीर ने चण्डकौशिक का क्रोध न करने की हितशिक्षा दी। विषय की पत्थरमार भाषा म नही, सद्भाव की फूल-सी सुकोमल भाषा म। प्रम और करुणा के देवता ने कहा— चण्डकौशिक ! समझो, अपने को समझो ! तुम क्या हो क्या कर रहे हो ? तन का विष केवल दूसरो को ही मारता है किन्तु मन का विष अपने को ही मार देता है। विष का प्रतिकार विष नही अमत है। वर का प्रतिकार वर नही, प्रम है।

प्रश्न है क्या पशु मनुष्य की भाषा समझ सकता है ? भले ही न समझता हो पशु मनुष्य की भाषा, किन्तु विश्वचेतना की एक ऐसी समान अनुभूति की दिव्य भाषा है जिसके केन्द्र पर सभी कुछ अच्छी तरह समझा जा सकता है। चण्डकौशिक सप ने महावीर के स्नेह मधुर उपदेशामत का वह पान किया कि उसका विष उतर गया। तन का तो नही, मन का। महावीर की अनन्त अहिंसा ने विष को भी अमत बना दिया। गत म पडा सागर सरिताओ के मधुर जल को खारा बनाता है, किन्तु गगनविहारी मेघ सागर के खारे जल को भी मधुर बनाकर भूतल पर बरसा देता है। महावीर ऐसे ही मेघ थे। बरसे तो सब ओर अमत ही अमत हो गया।

अपना श्रम, अपनी श्री

महावीर अपनी साधना का मूल्याकन बडी कठोरता से कर रहे थे। एक तरह से हर क्षण अपने को तोलते रहते थे। व जिस सिद्धि को पाना चाहते थे, उसकी साधना का अथ से इति तक का समग्र भार अपने ऊपर ही उठाए हुए थे। अपने लिए किसी दूसरे स सहायता की कामना जसी स्थिति उन्हे ठीक नही लगती थी। उनका जीवन-दशन परनिभरता का नही स्वनिभरता का था।

एक बार ऐसा हुआ कि महावीर एक गाँव के बाहर जगल म ध्यानस्थ खडे थे। तन और मन दोनो से मौन। भावधारा में अन्तर्लीन। इसी बीच गाँव का एक गोपालक अपने पशुओ को महावीर क पास चरते छोडकर गाँव मे किसी कायवश चला गया और जाते हुए महावीर से कह गया कि— जरा मेरे पशुओ को देखते रहना कही इधर-उधर न हो जाए। महावीर गोपालक की आवाज क्या सुनते वे

तो अपने ही अन्तर की आवाज सुनने म लग थे। उस समय ग आवाज मन सुनी जा सकती है ?

काम स निपट कर गोपालक आया किन्तु इधर पशु चरते चरते कहीं दूर निकल गए थे। गोपालक न पूछा, पर महावीर मौन। पूछने पर उत्तर न मिल तो साधारण मनुष्य का मन सहज ही अकल्पित की कल्पना करने लगता है। गोपालक ने माना—यह साधु नहीं अवश्य ही साधुवश म कोई चोर है। उसने आव देखा न ताव, महावीर को निर्दयता स मारने लगा। किन्तु महावीर चुप और शान्त! जसे कुछ हो ही न रहा हो! बोल सकते थे, समझा सकते थे। साधनाकाल म वे अन्यत्र बात भी है। किन्तु यहाँ क्या नहीं बोले ? मालूम होता है—वे अपने अन्तर को परख रहे थे कि इस स्थिति म व कितने और कहाँ तक शान्त रह सकते हैं ?

गोपालक का गालियाँ दना और मारना-पीटना चालू था। उसकी जबान और हाथ काफी तेज होते जा रहे थ। इसी बीच दवराज इन्द्र आ जाते हैं। वह गोपालक को महावीर क सम्बन्ध म समझा देते हैं और अन्त म चरणों म श्रद्धावनत होकर महावीर से प्रार्थना करते हैं 'भगवन्! मैं यहीं आपकी सेवा म रहूँगा। अबोध लोग आपको व्यर्थ ही इतना भीषण कष्ट देते हैं। जिससे मेरा रोम रोम काँप उठता है। मैं सेवा म रह कर अबोध लोगों को समझाता रहूँगा ताकि आपको कुछ कष्ट न हो, आपकी साधना निर्विघ्न चलती रहे।' किन्तु महावीर इस पर क्या कहते हैं ? महावीर कहते हैं—'देवराज! यह नहीं हो सकता। साधना सविघ्न हो या निर्विघ्न, मेरे लिए इसका कुछ महत्त्व नहीं है। मुझे किसी की कोई सहायता नहीं चाहिए। मुझे जो पाना है अपने श्रम स पाना है। साधक को परमपद अपने स्वय के बल पर मिलता है दूसरे के बल पर नहीं किसी की सहायता के भरोसे पर नहीं।' और महावीर की यह दिव्य ध्वनि तब स लगातार ध्वनित होती आ रही है—'स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्रा परमं पदम्।' महावीर की उक्त दिव्य ध्वनि का सार है—'अपना श्रम, अपनी श्री

भोक्ता नहीं द्रष्टा

एक बार ऐसी ही एक और घटना घटित हो गई थी एक ग्वाले ने क्रुद्ध होकर महावीर के कानों म काठ की शलाका

(कील) खोस दी थी इसलिए कि "तुम मेरी बात का उत्तर क्या नहा देत ? क्या तुम सुनते नही ? य कान हैं या कुछ और ? कानो म कील ! कितनी उग्र पीडा हो सकती है ? सुनन भर स मन सिहर उठता है। परन्तु महावीर मौन ! वाणी से भी, मन से भी। उनके मानस सर म पीडा की एक बहुत बडी चट्टान टूट कर आ गिरी थी। दूसरा कोई हाता तो बहुत बडा धमाका हाता सब कुछ उथल पुथल हो जाता। किन्तु महावीर के मन म कोइ लहर नहा। न प्रतिशोध की न वर की न घृणा की और न अन्य किसी दुर्विकल्प की। तितिक्षा की चरम सीमा ! क्षमा की परम आभा।

ऐसा नहीं कि उन्हे दु खानुभूति न हुई हो चलना सर्वथा अनुभूति शून्य हो गई हो ! शरीर आखिर शरीर है वह वज्र का भी हो तब भी क्या ? शरीर में उठती हुई वेदना अनुभूति का स्पर्श करती ही है किन्तु महावीर, वेदना का स्पर्श क्या, वेदना का प्राणप्रकम्पक बहुत बडा धक्का खाकर भी विचलित नहीं हुए। इसलिए कि उन्होंने अनुभूति का बहुत जल्दी उचित मोड देने की एक अद्भुत कला प्राप्त कर ली थी। उनका अध्यात्म बाहर का नहा अन्दर का था। ऐसे प्रसगो पर व सहसा बाहर स अन्दर म बहुत गहरे उतर जाते थे और वहाँ सही समाधान पा लेत थे। अध्यात्म की भाषा म महावीर वेदना के भोक्ता नहा द्रष्टा हो जाते थ। भोक्ता कभी कभी विकल्पो म उलझ जाता है आग का पथ भूल जाता है। किन्तु द्रष्टा की स्थिति विलक्षण होती है। वह दर्शन की भाषा म भोक्ता अवश्य होता है किन्तु अध्यात्म की भाषा मे भोक्ता नही, द्रष्टा होता है। द्रष्टा सुख-दु ख के अच्छे बुरे विकल्पो मे नही फँसता। पहल के बन्धन तोड कर फिर से नये बन्धन मे नही बँधता।

हाँ तो महावीर प्रस्तुत म वेदना को देखते भर रह। मात्र वेदना पर दृष्टि इधर उधर और कुछ नही। अतएव उन्होंने गोपालक का कुछ नहीं कहा वचन से भी नहीं, मन से भी नहीं। सभव है वेदना के क्षणो मे कुछ ठहरे हो किन्तु जल्दी ही अपनी स्वरूपसिद्धि की शोध मे जागत चेतना के साथ आगे बढ गए। पूरब स पश्चिम जैसे लम्बे पथ पर नही। नीचे से ऊपर की ओर! आध्यात्मिक ऊर्ध्वगमन।

तो अपने ही अन्दर की आवाज सुनने में लगे थे। एक साथ दो आवाज कैसे सुनी जा सकती हैं ?

काम से निपट कर गोपालक आया, किन्तु इधर पशु चरते चरते कहीं दूर निकल गए थे। गोपालक ने पूछा, पर महावीर मौन। पूछने पर उत्तर न मिले, तो साधारण मनुष्य का मन सहज ही अकल्पित की कल्पना करने लगता है। गोपालक ने सोचा—यह साधु नहीं अवश्य ही साधुवेश में कोई चोर है। उसने आव देखा न ताव महावीर को निर्दयता से मारने लगा। किन्तु महावीर चुप और शान्त! जैसे कुछ हो ही न रहा हो! बोल सकते थे, समझा सकते थे। साधनाकाल में वे अपवाद बोले भी हैं। किन्तु यहाँ क्या नहीं बोले ? मालूम होता है—वे अपने अन्दर को परख रहे थे कि इस स्थिति में वे कितने और कहाँ तक शान्त रह सकते हैं ?

गोपालक का गालियाँ देना और मारना-पीटना चालू था। उसकी जबान और हाथ काफी तेज होते जा रहे थे। इसी बीच देवराज इन्द्र आ जाते हैं। वह गोपालक को महावीर के सम्बन्ध में समझाते हैं और अन्त में चरणों में श्रद्धावनत होकर महावीर से प्रार्थना करते हैं—भगवन्! मैं यहीं आपकी सेवा में रहूँगा। अबोध लोग आपको व्यर्थ ही इतना भीषण कष्ट देते हैं। जिससे मेरा रोम रोम काँप उठता है। मैं सेवा में रह कर अबोध लोगों को समझाता रहूँगा ताकि आपको कुछ कष्ट न हो, आपकी साधना निर्विघ्न चलती रहे। किन्तु महावीर इस पर क्या कहते हैं ? महावीर कहते हैं—देवराज! यह नहीं हो सकता। साधना सविघ्न हो या निर्विघ्न, मेरे लिए इसका कुछ महत्त्व नहीं है। मुझे किसी की कोई सहायता नहीं चाहिए। मुझे जो पाना है अपने श्रम से पाना है। साधक को परमपद अपने स्वयं के बल पर मिलता है, दूसरों के बल पर नहीं, किसी की सहायता के भरोसे पर नहीं। और महावीर की यह दिव्य ध्वनि सब में लगातार ध्वनित होती आ रही है—'स्वश्रीवीर्येण गच्छन्ति जिनेन्द्रा परमं पदम्।' महावीर की उक्त दिव्य ध्वनि का सार है—'अपना श्रम अपनी श्री'

भोक्ता नहीं, द्रष्टा

एक बार उत्सव हो एक ओर कन्या परिणीत हो गई थी एक [illegible] महावीर के कानों में [illegible] को [illegible]

(कील) खाम दी थी, इसलिए कि 'तुम मरी बात का उत्तर क्या नही दत ? क्या तुम सुनते नही ? ये कान है या कुछ और ? काना म कील ! कितनी उग्र पीडा हो सकती है ? सुनने भर स मन सिहर उठता है। परन्तु महावीर मौन ! वाणी स भी मन स भी। उनक मानम सर म पीडा की एक वहुत वडी चट्टान टूट कर आ गिरी थी। दूसरा कोई होता, तो बहुत वडा धमाका होता, सब कुछ उथल पुथल हो जाता। किन्तु महावीर के मन म कोइ लहर नही। न प्रतिशोध की न वर का न घृणा की और न अय किसी दुर्विकल्प की। तितिक्षा की चरम सीमा ! क्षमा की परम आभा।

एसा नही कि उन्ह दु खानुभूति न हुई हो चेतना सवथा अनुभूति शून्य हो गई हो ! शरीर आखिर शरीर है वह वज्र का भी हो तव भी क्या ? शरीर म उठती हुई वेदना अनुभूति को स्पश करती ही है, किन्तु महावीर वेदना का स्पश क्या वेदना का प्राणप्रकपक वहुत वडा धक्का खाकर भी विचलित नहीं हुए। इसलिए कि उन्होंने अनुभूति को वहुत जल्दी उचित मोड देने की एक अदभुत कला प्राप्त कर ली थी। उनका अध्यात्म वाहर का नहा अन्दर का था। ऐस प्रसगा पर व सहसा वाहर म अन्दर में वहुत गहरे उतर जाते थ और वहाँ सही समाधान पा लेत थे। अध्यात्म की भाषा मे महावीर वेदना के भोक्ता नही द्रष्टा हो जाते थ। भोक्ता कभी कभी विकल्पो मे उलझ जाता है आगे का पथ भूल जाता है। किन्तु द्रष्टा की स्थिति विलक्षण होती है। वह दशन की भाषा म भोक्ता अवश्य होता है किन्तु अध्यात्म की भाषा म भोक्ता नही द्रष्टा होता है। द्रष्टा सुख-दुख के अच्छे-बुरे विकल्पों में नहीं फँसता। पहल के बधन तोड कर फिर स नये बधन म नही बँधता।

हाँ तो महावीर प्रस्तुत मे वेदना को देखने भर रह। मात्र वेदना पर दृष्टि इधर उधर और कुछ नही। अतएव उन्होंने गोपालक को कुछ नही कहा वचन म भी नहीं मन मे भी नही। सभव है वेदना के क्षणो म कुछ ठहरे हो किन्तु जल्दी ही अपनी स्वरूपसिद्धि की शोध म जागत चेतना क साथ आगे वढ गए। पूरव स पश्चिम उस लम्बे पथ पर नहीं। नीचे मे ऊपर की ओर! आध्यात्मिक ऊर्ध्वगमन।

...मर्यादा के अनुकूल समय पर
...ा है। सक्षमता यही कि यदि कभी भूखा रह सके प्यासा रह सके।
...न मिले तो सहज भाव से भूखा रह सके। प्यासा रह सके। इधर प्यास
...र भूख लगी कि उधर साधकजी फूल से मुरझा गए। इधर प्यास
...ी कि उधर हाय मरा का शोर मचाने लगे। साधना के पथ
...ऐसा नहीं होना चाहिए। संकट की घड़ियों में भी अनाकुलता
...नाये रखना, विचलित न होना, साधना का उद्देश्य है। महावीर
...ी साधना इसी पथ पर गतिशील थी।

सहज तप

महावीर तपस्वी थे जैन इतिहासकारों की भाषा में—उग्र तपस्वी, घोर तपस्वी और बौद्ध साहित्य की भाषा में दीर्घतपस्वी। परन्तु उनकी यह तप की उग्रता व दीर्घता विवेक की सीमा में थी। न हठ से फलती थी और न हठ से सिमटती थी। तप सहज था वह हो जाता था। जब तक वह होता रहता अनाकुलता का, आनन्द का भाव बना रहता। और जब वह समाप्त होता तब भी वही अनाकुलता, वही आनन्द की धारा। न होने में ग्लानि और न होने में ग्लानि। एक सहज भाव, जो तप का या किसी भी अन्य साधना का प्राण है। इसलिए अध्यात्म की भाषा में कहा जाता है—महावीर ने तप किया नहीं तप हो गया। जो तप महावीर के लिए सहज था खेद है कुछ दूर आगे चलकर वह दूसरों के लिए हठ बन गया। महावीर का शारीरिक तप जो उन के लिए अध्यात्मभाव का एक निमित्त मात्र था, अनुकरणशील साधकों ने उसे ही धर्म और अध्यात्म का एकमात्र आधारस्तम्भ मान लिया बिना सोचे विचारे हर किसी के लिए दीर्घ-तप आदर्श बन गया। महावीर की साधना का मुख्य आधार बाहर नहीं अन्दर था बाह्य तप नहीं अन्तस् था और वह ध्यान था। वह ध्यान जिसने उनके जीवन की मन अनुभवृत्तियों को शुभ में और आगे चलकर शुद्ध में परिवर्तित दिया, अन्धकाराच्छन्न अन्तर् को अनन्त ज्योति से भर दिया। ... कहीं भी महावीर के तप का वर्णन आया ... साथ ही ध्या... उल्लेख है और उल्लेख है ध्यान ... का। इस ... रखन का ... तप ध्यान ...

स्व...

शरीर के अथ उत्पीडन के लिए नही। देहाश्रित बहिरंग तप अन्तरंग तप के सर्वोत्कृष्ट रूप ध्यान की पृष्ठभूमि था, और नही।

न गर्व, न ग्लानि

भोजन की आवश्यकता होने पर महावीर वन से नगर म जाते अपनी मर्यादा के अनुसार घरा से भिक्षा ग्रहण करते। समय भोजन ग्रहण करना भी उनके लिए अनाकुलता की ही एक ना थी। कभी-कभी भोजन के सम्बन्ध म उनके कुछ पूव ल्प भी होते थे जिन्हें जैन साहित्य म अभिग्रह कहा गया है। ग्रह के अनुसार उन्हें आहार न मिलता, तो बिना आहार ग्रहण ही लौट आते थे। इस प्रकार दिन पर दिन गुजरते जाते, और हार न मिलता, फिर भी महावीर प्रसन्नचित्त। मिल गया तो प्ति का कोई गर्व नही, और न मिला तो अप्राप्ति की कोई ग्लानि । दोनो ही स्थितियो मे समरस। साधारण व्यक्तियो को ठनाइयाँ तोड देती हैं आगे बढने से रोक देती है, कभी-कभी तो स भी लौटा लाती है परन्तु महावीर कही रुके नही। उनकी दर की सृजनात्मक ऊर्जा उन्हें हमेशा आगे और आगे ही बढाती ी, विकासोन्मुख करती रही। महावीर सच्चे अर्थों म महावीर वर्धमान थे। 'यथा नाम तथा गुण'।

क्षमा के क्षीर सागर

अपरिचित अनार्य प्रदेशो म महावीर पहुचते है तो उन्हें अवज्ञा एव रस्कार का सामना करना पडता है। लोग उन पर धूल फेंकते थर मारते उन्हें नाच डालने के लिए शिकारी कुत्ते भी छोड ते। किन्तु महावीर शान्त रहते किसी को कुछ भी नहीं कहते। दुष्ट विरोधियो के प्रति भी सौहार्द एव सौजन्य से पूर्ण मधुर भाव उनका। वाणी मे तो क्या मन म भी कटुता नहीं होती थी नके। क्षमा के क्षीरसागर! सागर म बिजलियाँ, उल्काएँ गिरें तो या हो? अपने आप शान्त हो जाती है सागर का कुछ बिगाड ा पाती है। 'अतृण पतितो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति' बिना घास की मि म पडी हुई आग धुआँ धुआँ हो जाती है।

कभी-कभी ऐसा होता कि अपरिचित लोग महावीर से उनका परिचय जानना चाहते और पूछते कि आप कौन हैं? महावीर इसका क्या उत्तर देते? यह कि मैं वैशाली का राजकुमार हूं। अब भी मेरा बड़ा भाई नन्दीवर्धन ज्ञातृगणराज्य का शासक है सुप्रसिद्ध वैशाली गणराज्य का प्रमुख घटक है। नहीं ऐसा कुछ नहीं। महावीर कहते—'मैं श्रमण हूं' पहले पीछे का कोई परिचय नहीं केवल वर्तमान का परिचय, जैसा कि वे तब थे। अहंशून्य अन्तरंग रसधारा में डूबे सच्चे साधक के ये ही उद्गार हो सकते हैं। अन्यथा भीतर में सोयी हुई वृत्तियां ऐसे प्रसंगों पर सहसा जाग जाती हैं फुंकारने लगती हैं। ऐसे समय में कच्चा साधक कुचला जाता है आगे बढ़ने में रुक जाता है कभी-कभी तो मार्ग बदलने के लिए भी लाचार हो जाता है। किन्तु ऐसे प्रसंगों पर महावीर की क्षमता आश्चर्यजनक होती थी। निन्दा हो स्तुति हो कुछ हो वे हवा के झोंके की तरह फूलों में से भी आगे बढ़ जाते और कांटों में से भी। न स्तुति से उत्साहित होते न निन्दा से अनुत्साहित। धैर्य और निष्ठा के साथ संतुलित भाव से सत्य की खोज में हर क्षण आगे बढ़ते रहे।

प्रोत्साहित साधना में साधक का अहंभाव नहीं टूटता है अतएव प्रोत्साहित साधना प्रशंसा के क्षणों में मचल जाती है। वह अपने विज्ञापन के लिए हर मौके की तलाश में रहती है। जब अवसर पाने की धुन में हर किसी को धोखा देनेवाले असाधारण दांव-पेंच करने लगती है। प्रोत्साहित साधना हर क्षेत्र में हर समय निन्दा एवं आलोचना से पीछे हटती है। अवसर के क्षणों में रो पड़ती है। महावीर की साधना किसी के द्वारा प्रोत्साहित एवं प्रेरित साधना नहीं थी। अपनी भीतरी ऊर्जा से निःसृत वह एक सहज स्फूर्त साधना थी। वह सत्य की एक ऐसी ज्वाला थी जो न प्रशंसा से बुझ सकती थी न निन्दा से। यही कारण है कि महावीर मान और अपमान से निन्दा और स्तुति से अस्पृष्ट रह कर विभिन्न प्रयोगों के माध्यम से अखण्ड सत्य को प्राप्त करने की दिशा में प्रामाणिक प्रयास करते रहे। जीवन की जटिल समस्याओं के वैज्ञानिक विश्लेषण के

उनके मन म अटल विश्वास लहरा रहा है। और उसके लिए हर साधन को व अपने अनुकूल बना लेते है चाहे वह कितना ही प्रतिकूल प्रभजन लेकर आया हो। जीवन म कुछ ऐसे प्रसग आते हैं जब मनुष्य का मन उन्मत्त तूफान के धक्के खाते वृक्ष की तरह लडखडा जाता है शान्ति खतरे म पड जाती है। विवेक का दीप बुझने लगता है। किन्तु महावीर ऐसे प्रसगो पर भी बोखलाते नहीं है निराश नही होते हैं शिथिल नही होते हैं। उनका साधुत्व तेजस्वी है। उनकी साधना का दीप आधी-तूफानो म भी प्रज्वलित रहता है बुझता नही है। कैसा भी क्यो न ऊचा-नीचा प्रसग हो महावीर कभी भी अपने को गलत आश्वासन नही देते। वे अपने मन को फुसलाते नही है इसलिए कही फिसलते नही है। प्रत्येक स्थिति का दृढता और विवेक के साथ सूक्ष्म से सूक्ष्म निरीक्षण एव विश्लेषण करते है और इस प्रकार मुक्त चिन्तन के प्रकाश म प्रयोग की दिशा म आगे बढ जाते हैं।

महावीर की साधना सत्य के प्रयोग की साधना है। शरीर को नही आत्मा के सत्य की साधना है। वह साधना जो साधक को बधनमुक्त करती है सत्य का अनन्त प्रकाश दिखलाती है और साधक को अनन्त आनन्द की धारा म सदा सर्वदा के लिए प्रवाहित करती है।

●●

अन्तर्मुखी साधनापद्धति

महावीर की साधना : अन्दर की साधना

आज तक ढाई हजार वर्षों की लम्बी अवधि में महावीर के सम्बन्ध में जो लिखा गया है, उसमें उनकी साधना का अंतरंग रूप बहुत कम चर्चित-वर्णित हुआ है। जबकि उनके लोक कल्याणकारी उपदेश की तरह ही उक्त अंतरंग साधना पद्धति का विश्लेषण भी अतीव आवश्यक है। महावीर बाहर में उतने नहीं थे, जितने कि अन्दर में थे। अतः यह उनके अन्दर का जीवन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और इसी अंतरंग जीवन के सम्बन्ध में प्राचीन लेखक प्रायः मौन हैं। फिर भी आज हम साधनाकाल की उन विभिन्न घटनाओं के आधार पर उनकी अन्तरंग साधनापद्धति की कुछ परिकल्पना कर सकते हैं।

साधना का बाह्याकार : आचार

महावीर अन्दर और बाहर दोनों तरह से परिग्रहमुक्त होकर प्रव्रजित हुए थे। उनके पास धन सम्पत्ति के नाम पर कुछ नहीं था। जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी तो कोई साधन नहीं था। हजारों सेवकों से घिरा रहने वाला राजकुमार, जब स्वयं दीक्षित होकर सत्य की खोज में एकान्त सूने वनों की ओर चला, जहाँ कदम-कदम पर मौत नाचती फिरती थी तो उसने

अपने साथ परिचर्या के लिए एक सेवक भी नही रखा और न सरक्षण के लिए कोई शस्त्र ही। न अध्ययन के लिए कोई शास्त्र रखा और न पूजा अर्चना के लिए कोई चमत्कारी साधन ही। प्रव्रजित होते समय एक वस्त्र था बाद म वह भी नही रखा। महावीर का यह पूर्ण अपरिग्रही रूप था जो चरित्र ग्रथो म काफी विस्तार से वर्णित है। किन्तु यहा हम कुछ और चर्चा करेंगे जिसका हमने ऊपर सकेत किया है।

महावीर का साधनामार्ग पूर्णत स्वतन्त्र था। तत्कालीन साधना पद्धतिया जिनका समाज म यत्र तत्र प्रचलन था महावीर को मान्य नहा थी। उनकी साधनापद्धति स्वनिर्धारित अन्तमु खी साधनापद्धति थी। हर पहले दिन की अनुभूति और उपलब्धि दूसरे दिन के मार्ग का प्रशस्त करती थी। अत उनके इस दीर्घ साधनाकाल को किसी एक ही विशिष्ट पद्धति का नही कहा जा सकता। बाहर म उनकी साधनापद्धति काफी बदलती रही है जिसके साक्ष्य चरित्र ग्रन्था म आज भी उपलब्ध हैं। यही कारण है कि आज का आचार सहिता के साथ उनके बहुत से क्रियाकलाप ठीक तरह म मेल नही खाते हैं हालाकि कुछ लागा द्वारा मेल बिठाने के अब भी असफल प्रयास किय जा रहे हैं।

साधना का मूल प्राण वीतरागता

महावीर की साधना का बाह्याकार गौण है, क्योकि वह शाश्वत नही है, स्वय उनकी भाषा म वह साधना की मूल धारा नहा है। उनकी साधना का मूल प्राण जो साधनाकालीन घटनाओ से परिलक्षित होता है साधनोत्तर जीवन मे दिये गए उपदेशा से भी प्रकट होता है, वह है वीतरागभाव। वीतरागभाव अर्थात राग से परे द्वेष स परे तटस्थ भाव—मध्यस्थ भाव—समभाव।[1] यही वीतराग भाव महावीर की वास्तविक साधनापद्धति है और यही सपूर्ण वीतरागता उनकी साधना की सिद्धि है। हा वीतरागभाव की सिद्धि के लिए परिकररूप म कुछ और भी किया या कहा मिलता है परन्तु वह और, सर्वथा और नहीं है। यदि गहराई स निरीक्षण

---

१ समो य जो तेसु स वीयरागो। —उत्तराध्ययन ३२

चार

अन्तर्मुखी साधनापद्धति

महावीर की साधना अन्दर की साधना

आज तक ढाई हजार वर्षों की लम्बी अवधि में महावीर के सम्बन्ध में जो लिखा गया है उसमें उनकी साधना का अन्तरंग रूप बहुत कम चर्चित वर्णित हुआ है। जबकि उनके लोक कल्याणकारी उपदेश की तरह ही उक्त अन्तरंग साधना पद्धति का विश्लेषण भी अतीव आवश्यक है। महावीर बाहर में उतने नहीं थे जितने कि अन्दर में थे। अतः यह उनके अन्दर का जीवन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और इसी अन्तरंग जीवन के सम्बन्ध में प्राचीन लेखक प्रायः मौन है। फिर भी आज हम साधनाकाल की उन विभिन्न घटनाओं के आधार पर उनकी अन्तरंग साधनापद्धति की कुछ परिकल्पना कर सकते है।

साधना का बाह्याकार आचार

महावीर अन्दर और बाहर दोनों तरह से परिग्रहमुक्त होकर प्रव्रजित हुए थे। उनके पास धन सम्पत्ति के नाम पर कुछ नहीं था। जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी तो कोई साधन न था। हजारों सेवकों में घिरा रहने वाला राजकुमार जब स्वयं दीक्षित होकर सत्य की खोज में एकान्त शून्य वनों की ओर चला जहाँ कदम-कदम पर मौत नाचती फिरती थी तो उनके

अपने साथ परिचर्या के लिए एक सेवक भी नहीं रखा और न सरक्षण के लिए कोई शस्त्र ही। न अध्ययन के लिए कोई शास्त्र रखा और न पूजा अर्चना के लिए कोई चमत्कारी साधन ही। प्रव्रजित होते समय एक वस्त्र था बाद मे वह भी नहीं रखा। महावीर का यह पूर्ण अपरिग्रही रूप था जो चरित्र ग्रन्थो म काफी विस्तार म वर्णित है। किन्तु, यहा हम कुछ और चर्चा करेंगे जिसका हमने ऊपर सकेत किया है।

महावीर का साधनामार्ग पूर्णत स्वतन्त्र था। तत्कालीन साधना पद्धतियाँ, जिनका समाज म यत्र तत्र प्रचलन था महावीर को मान्य नहीं थी। उनकी साधनापद्धति स्वनिर्धारित अन्तमु खी साधनापद्धति थी। हर पहले दिन की अनुभूति और उपलब्धि दूसरे दिन के मार्ग को प्रशस्त करती थी। अत उनके इस दीर्घ साधनाकाल को किसी एक ही विशिष्ट पद्धति का नहीं कहा जा सकता। बाहर म उनकी साधनापद्धति काफी बदलती रही है जिसके साक्ष्य चरित्र ग्रन्थो म आज भी उपलब्ध हैं। यही कारण है कि आज की आचार सहिता के साथ उनके बहुत से क्रियाकलाप ठीक तरह स मेल नहीं खाते हैं हालाकि कुछ लोगो द्वारा मेल बिठाने के अब भी असफल प्रयास किये जा रहे हैं।

साधना का मूल प्राण वीतरागता

महावीर की साधना का बाह्याकार गौण है क्योकि वह शाश्वत नहीं है स्वय उनकी भाषा मे वह साधना की मूल धारा नहीं है। उनकी साधना का मूल प्राण, जो साधनाकालीन घटनाओ से परि लक्षित होता है साधनोत्तर जीवन मे दिये गए उपदेशो से भी प्रकट होता है, वह है वीतरागभाव। वीतरागभाव अर्थात् राग से परे द्वेष से परे तटस्थ भाव—मध्यस्थ भाव—समभाव। यही वीतराग भाव महावीर की वास्तविक साधनापद्धति है और यही सपूर्ण वीतरागता उनकी साधना की सिद्धि है। हा वीतरागभाव की सिद्धि के लिए परिकरूप म कुछ और भी किया या कहा मिलता है परन्तु वह और सर्वथा और नहीं है। यदि गहराई स निरीक्षण

---

१ समो य जो तेसु स वीयरागो। —उत्तराध्ययन ३२

किया जाए तो वह भी वीतराग भाव की ही परिणति है। गलत है। वीतराग भाव से जिसका दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है, भला वह वीतराग महावीर को कहा या किया कैसे हो सकता है? सूरज की उजली प्रकाशकिरण काले अंधकार में घिर जाएँ, कभी ऐसा हुआ है?

वीतरागता साधना भी, सिद्धि भी

महावीर के समग्र जीवन दर्शन की उनकी साधनापद्धति को किसी एक ही शब्द में कहना हो तो वह है—वीतरागता। यही साधना का प्रारंभ बिन्दु है और यही अंतिम बिन्दु भी। जो अन्तर है वह पूर्णता और अपूर्णता का है। वीतरागभाव की क्रमिक विकासधारा साधना है और कभी क्षीण न होने वाली पूर्णता साधना का अंतिम बिंदु सिद्धि है।

चैतन्यसूर्य के मेघावरण राग-द्वेष

राग आसक्ति है, द्वेष घृणा। अनादिकाल से चैतन्य ज्योति उक्त आवरणों से आच्छन्न है। आत्मा की बद्धता और कुछ नहीं, यही बद्धता है। स्वयं महावीर ने कहा है—दो ही बन्धन हैं राग और द्वेष।[1] जिस प्रकार सहस्रकिरण सूर्य मेघों के आवरण में छिप जाता है उसी प्रकार अनन्तकिरण आत्मा भी राग-द्वेष के आवरणों में छिप जाती है। उसका प्रकाश दब जाता है। बादलों का निर्माण कौन करता है? सूर्य। और उन्हें हटाता कौन है? सूर्य। निर्माण और संहार दोनों ही शक्तियाँ सूर्य की हैं। चैतन्य भी ऐसी ही स्थिति में है। चैतन्य की विभाव शक्ति आवरणों को जन्म देती है और उसकी स्वभावशक्ति उनका संहार करती है। सूर्य मेघों को हटाता है, जबकि आत्मा स्वयं हट जाती है। यही अन्तर है सूरज और आत्मा में। कहा जाता है महावीर ने आवरणों को हटाया बन्धनों को तोड़ा। इसका यही अभिप्राय है कि उन्होंने अपने भाव को बहिर्मुख से अन्तर्मुख किया, उनके भाव ने विभाव से स्वभाव की

रूप लिया और व बन्धन से मुक्त हो गए। विभाव बन्धन है स्वभाव मुक्ति है।

राग द्वेष क्या हैं? विकल्प ही तो हैं। विकल्प है तो राग द्वेष है विकल्प नहीं हैं तो राग द्वेष नहीं हैं। बन्धन द्विष्ठ होता है, दो म होता है। एक के हटने पर दूसरा स्वय हट जाता है। आत्मा स्वय अपने को विकल्प से हटाती है और दूसरी ओर विकल्पमूलक राग द्वेप स्वय हट जाते है। हट क्या जाते हैं उनका अस्तित्व ही निरस्त हो जाता है। समता के समक्ष विषमता का क्या अस्तित्व? दिन के समक्ष रात्रि की क्या सत्ता?

निश्चय दृष्टि से देखें तो आत्मा पर बन्धन या आवरण है ही कहां? अनन्त चेतना पर कोई आवरण नहीं कोई बन्धन नहीं। ये सब आवरण और बन्धन आरोपित हैं। आरोपित अर्थात अज्ञानता के कारण बन्धन को बन्धन के रूप में स्वीकृति ही बन्धन है। और बन्धन की अस्वीकृति ही मुक्ति है। महावीर ने अनादि काल के स्वीकृत बन्धन को अस्वीकृत कर दिया और व बन्धन से मुक्त हो गए, वीतराग हो गए। बन्धन की अस्वीकृति का अमोघ साधन ध्यान है। ध्यान का अर्थ है अपने अन्दर के प्रसुप्तप्राय देवत्व को जगाने की एक आन्तरिक प्रक्रिया, विस्मृत स्व की स्मृति का उदबोधित करने की एक आध्यात्मिक कला।

परत, परत और परत

हमारे जीवन की समष्टि एक अति जटिल सघनता का झाडझाड का रूप लिए हुए है। सर्वाधिक स्थूल यह दृश्य शरीर है फिर इन्द्रिया हैं, मन है और मन की विकृतियाँ हैं। अनेक परतों के नीचे दबे जल स्रोत की तरह ही इन परतों के नीचे चेतना का विशुद्ध अस्तित्व दबा पड़ा है। शरीर बहुत ऊपर की परत है। इन्द्रियाँ उसके नीचे की परत है और मन की परत इन सब परतों के नीचे है। शरीर क्या है? अस्थि है मास है मज्जा है मल है मूत्र है विष्टा है पानी है आदि आदि। इन्द्रियाँ शरीर से सूक्ष्म हैं। रूप, रस गन्ध आदि भौतिक स्थितियों की अनुभूति तक ही इनकी गति है। सबसे जटिल मन है। यह सकल्प विकल्पों का एक ऐसा मायाजाल है जिसमे

मानव की अन्तर्चेतना बुरी तरह उलझी रहती है। राग और द्वेष, इनसे होने वाला उत्तेजना, घृणा, ईर्ष्या, अहंकार आदि विकृतियों की सूक्ष्म अभिव्यक्तियाँ सर्वप्रथम अन्तर्मन में जन्म लेती हैं। अनन्तर शरीर और इन्द्रियों के माध्यम से उक्त विकृतियों की स्थूल अभिव्यक्ति होती है।

मन पर विकारों संस्कारों एवं अच्छे बुरे विचारों की एक पर एक सघन तह जमी हुई है। मन के क्षुद्र आँगन में विकृतियों की एक बहुत बड़ी भीड़ डेरा डाल पड़ी है। यही वह भीड़ है, जो अन्दर की शुद्ध चेतना को प्रकट नहीं होने देती उभरने नहीं देती। यह विकृतियों का आवरण चेतना की अनन्त ज्योति को सब ओर से आवृत किए हुए है चाँद बादलों में छिप गया है।

शरीर और इन्द्रियों की परतें कुछ खास हानिकर नहीं हैं। खास क्या, यों कहना चाहिए, कुछ भी हानिकर नहीं हैं। साधना की दृष्टि से इन परतों का तोड़ना आवश्यक नहीं है। वीतराग भाव की सिद्धि में शरीर कहाँ रुकावट डालता है इन्द्रियाँ कहाँ बाधा उपस्थित करती हैं। राग-द्वेष शरीर में नहीं हैं। इनका केन्द्र शरीर एवं इन्द्रियाँ नहीं कोई और है। और वह है मन! मन भी स्वयं क्या गड़बड़ करता है? जिस प्रकार शरीर और इन्द्रियों को मारना साधना नहीं है उसी प्रकार मन को मारना भी साधना नहीं है। मन बुरा नहीं है बुरी है मन की विकृतियाँ अर्थात आन्तरिक भाव के विकार। साधना, बस, इन्हीं विकृतियों की परतों को तोड़ना है, चेतना के मल को साफ करना है। विकृतियों की भीड़ के कोलाहल में चेतना का अपना मूल स्वर विलीन हो गया है। साधना का उद्देश्य इसी स्वर को मुखरित करना है भीड़ के कोलाहल को शान्त करना है। जब तक भीड़ रहेगी कोलाहल होता ही रहेगा, और चेतना का अपना मूल स्वर इस कोलाहल में डूबा ही रहेगा। अतः भीड़ को ही समाप्त करना है।

काम क्रोध मद, लोभ, मोह आदि असत्य-अनन्त विकृतियों के मूल बीज हैं—राग और द्वेष।[1] साधना इसी राग-द्वेष से मुक्त होने

---

१ रागो य दोसो विय कम्म बीयं।　　　　　　—उत्तराध्ययन ३२

की निष्ठा में चेतना का अपना अन्तःस्फूर्त पुरुषार्थ है। जब चेतना विकृतियों से मुक्त होकर अपने विशुद्धमूल स्वरूप में पहुँच जाती है, सदा के लिए शुद्ध स्थिति में स्थिर हो जाता है तब वही परम चेतना हो जाती है। यह परम चेतना ही परम तत्त्व है परमात्म तत्त्व है। उक्त परम तत्त्व को परम चैतन्य को पाने की आध्यात्मिक प्रक्रिया ही वह साधना है जो महावीर ने स्वीकार की।

दमन, शमन या क्षपण

साधना का अर्थ विकृतियों से मुक्त होना है अन्दर में दबे हुए शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमतत्त्व को पाना है। परन्तु प्रश्न है यह सब हो कैसे सकता है? उक्त प्रश्न के उत्तर में जब हम नयी-पुरानी धर्म परम्पराओं पर एक गहरी चिन्तनात्मक दृष्टि डालते हैं तो हम देखते हैं कि कुछ लोग दमन का पथ पकड़े हुए हैं। अनेक साधक हैं, जो शरीर को कठोर यातनाएं देते हैं। कड़कड़ाती सरदी में नंगे रहते हैं और भयंकर गरमी में कम्बल ओढ़े फिरते हैं। पौष माघ के महीनों में सारी रात जल में खड़े रहते हैं और बैशाख जेठ की तपती दुपहरिया में चारों ओर प्रचण्ड अग्नि जलाकर बैठते हैं। कुछ काँटों पर सोते हैं कुछ खड़े खड़े ही वर्ष के वर्ष गुजार देते हैं और इस स्थिति में पशुओं की तरह खड़े-खड़े ही मलमूत्र की विसर्जनक्रिया भी करते हैं। कुछ सूखा घास या पत्ते चबाते हैं, कुछ जल पर की शैवाल (काई) ही खाते हैं कुछ लोग अपनी आँख कान आदि इन्द्रियों को भी कुचल देते हैं, और अंधे बहरे हो जाते हैं। कुछ लोगों ने साधना के अति उत्साह में विकारों से मुक्त होने के लिए भीष्म कर्म (पुरुषचिह्न का छेदन) तक कर डाले हैं।

महावीर के युग में भी ऐसे हजारों साधक थे जिनका जैन तथा वैदिक साहित्य से प्रामाणिक साक्ष्य मिलता है। आन्तरिक वृत्तियों को शून्य पर लाने के लिए साधना के जो प्रयोग होते चले आए हैं उनमें उक्त प्रयोग दमन के प्रयोग हैं। दमन भीतर से उठने वाली अशुभ वृत्तियों को रोकने का तामसी प्रयोग है। इसमें शरीर और इन्द्रियों की प्रवृत्तियों का कुछ क्षणों के [illegible]ता एक विवेकशून्य हठ है और कुछ नहीं। सप [illegible]र मार

बाध की तरह होती है। हाहाकार मचा देती है। बाध मे अवरुद्ध महानद की तूफानी जलधारा एक दिन बाध को तोड देती है और वह ऐसा सहार लीला करती है कि साक्षात रौरव का दृश्य उपस्थित हो जाता है। दमन के साधको की भी अत म एक दिन यही स्थिति हो सकती है।

दमन का आधार अविवेक है अज्ञान है। अत उसम उचित अनुचित का कुछ विचार नहा होता है केवल एक हठ होता है जो अह के केन्द्र पर खडा रहता है। दमन का साधक अधिकतर पर म्परागत सामाजिक व्यवस्थाओ पर बल देता है और इन्ह ही साधना का अन्तिम आदर्श मान लता है। और इस प्रकार दमन का साधक आसानी स धार्मिक एव आध्यात्मिक होने की प्रसिद्धि पा लता है शीघ्र ही लोकप्रिय हो जाता है। और जब ऐसा होता है तो वह फिर कुछ और अधिक अपनी घराबन्दी शुरु करता है। अपने को पहल नबर का और दूसरा को दूसरे तथा तीसरे नबर का या किसी भी नबर का नही प्रमाणित करने क लिए वह कठोर एव विचित्र क्रियाकाण्डो की नयी नयी उदभावनाए करता है। और इस प्रकार वह सिद्धि एव प्रसिद्धि के फेर म पडकर कही का भी नहा रहता।

धार्मिक जगत म परस्पर निन्दा एव आलोचना का जो अभद्र वातावरण रहता है उसका क्या कारण है ? यही कारण है कि दमन के साधक को यश की भूख बहुत तीव्र हो जाती है और इसके लिए वह दूसरो को यश के सिंहासन से नीचे गिराकर खुद उस पर बैठने को पागल हो जाता है। आमतौर पर प्रसिद्धि को पाने या प्राप्त प्रसिद्धि को बनाय रखने के लिए एक ओर कठोर स कठोर साथ ही जनसाधारण को चमत्कृत कर देने वाले क्रियाकाण्डो का पथ अपनाता है तो दूसरी ओर अन्य साधको एव धार्मिको क लिए निन्दा का वातावरण खडा करता है।

वस्तुत अशुभ वृत्तियो की निवृत्ति का दावा करन वाला यह दमन स्वय ही एक अशुभ वृत्ति है। जो स्वय अशुभ है और कवल बाहर म शुभ का बाना पहन ने तो क्या वह इतने भर म शुभ हो सकता है ? अशुभ को दूर कर सकता है ? कोल कोयल का दूध स धोकर सफेद नही किया जा सकता। रावण को राम के वस्त्र

पन्ना कर राम नहीं बनाया जा सकता है। अशुभ एवं विकृत वृत्तियों को भी केवल देहदण्डस्वरूप निर्जीव संयम का चोला पहनाकर विशुद्धता के रूप में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता। संयम के नाम से प्रचारित बाहर के मोहक अवगुंठन के पीछे अन्दर में विकृतियां एवं कुण्ठाओं की कुरूपता विद्यमान रहती है। सुन्दर अवगुंठन कुरूपता को छिपाये रख सकता है, उसे मिटा नहीं सकता। दमन वृत्तियों का निष्कासन नहीं करता, अपितु निष्कासन का या तो भुलावा करता है या प्रदर्शन। और कुछ नहीं।

अनेक बार ऐसा होता है कि विकृतियाँ नष्ट नहीं होतीं, प्रत्युत नष्ट होने का भ्रम हो जाता है और यह भ्रम समय पर साधक को बहुत बड़ा धोखा देता है। बर्फ में दबा सर्प, लगता है मर गया है किन्तु ज्योंही इधर उधर की गरमी पाता है, फुंकार मारने लगता है। दमन वृत्तियों को दबा देना है, कुछ क्षणों के लिए वृत्तियों का शमन एवं उपशमन कर देता है और बस दमन का कार्य पूरा हो जाता है। साधक विश्वस्त होकर बैठ जाता है कि चलो, ठीक सफलता मिल गई। परन्तु यह पथ खतरे से भरा है, अतः यह साधना का सफल मार्ग नहीं है।

दमन के विपरीत एक और पथ है – वृत्तियों को खुलकर खेलने देना। कुछ लोग कहते हैं—मन में जो भी वृत्ति उभरे, उसे भोग द्वारा उसकी पूर्ति की जानी चाहिये। दमित वृत्तियाँ नहीं, मुक्त वृत्तियाँ ही मन को हलका करती हैं और इस प्रकार स्वच्छन्द विलासी जीवन बिताते हुए भी लक्ष्य सिद्धि का, आध्यात्मिक पवित्रता का पथ प्रशस्त हो जाता है। परन्तु साधना का उक्त पथ भी प्रशस्त नहीं है। वृत्तियों को मनचाही पूर्ति एवं सन्तुष्टि करके भी उन्हें मिटाया नहीं जा सकता। अग्नि में खुलकर घृत डालने से वह और अधिक प्रज्वलित होती है, बुझती नहीं है। नदी की बहती जलधारा के निकट रेत में लोग गड्ढे खोद लेते हैं और धीरे धीरे उनमें पानी भर जाता है। उलीचने से कुछ क्षणों के लिए अवश्य रिक्तता आ जाती है परन्तु यह रिक्तता स्थायी नहीं होती। इस तरह गड्ढे सूखते नहीं हैं। यही बात वृत्तियों को उलीचने के सम्बन्ध में भी है। हम उन्हें पूर्ति के द्वारा उलीच देते हैं और समझ लेते हैं कि चलो, वृत्तियों से छुटकारा हुआ। परन्तु ऐसे

छुटकारा होता नहीं है। कुछ समय के लिए छुटकारे का आभास मात्र होता है क्षणिक समाधान मिलता है, परन्तु यह स्थायी एवं वास्तविक समाधान नहीं है। अस्तु जिस प्रकार वृत्तियों का दमित करके वृत्तियों का नष्ट नहीं किया जा सकता उसी प्रकार वृत्तियों का मुक्त रूप में सन्तुष्ट करके भी उनको नष्ट नहीं किया जा सकता।[1] प्रस्तुत सन्दर्भ में महावीर की साधना जिस तरह दमन की साधना नहीं है उसी तरह भोग विलास के पथ पर वृत्तियों को खुला छोड़ देने की भी उनकी साधना नहीं है।

महावीर की साधना की इन दोनों से भिन्न एक और ही अद्भुत रूप है। उसका पथ विवेक का है चेतना का है। उचित निवृत्ति और उचित प्रवृत्ति—इन दोनों को स्पर्श करता हुआ बीच से पथ जाता है महावीर की साधना का। बाह्य विधिनिषेध अमुक सीमा तक उन्हें मान्य हैं। उनके लिए उपयोगी भी रहे हैं। परन्तु उनका मुख्य साधनापथ बाहर में नहीं, अन्दर में था। वृत्तियों का दमन या शमन नहीं क्षपण ही उनका आदर्श था। शास्त्र की शुद्ध भाषा में इसे क्षायिकमार्ग कहा जाता है। साधना की क्षायिकपद्धति में वृत्तियों के बीज को देखा और समझा जाता है। उनके कारणों की सही-सही खोज की जाती है। उन्हें शून्यांश पर लाने के लिए शुद्ध वैज्ञानिक अध्यात्म पद्धति को उपयोग में लाया जाता है। महावीर की साधना पद्धति यही क्षायिक साधना पद्धति थी, जिसने जीवन की वृत्तियों को विकृतियों को जड़ से उखाड़ फेंका। वे मूलतः नष्ट हो गईं। और इसके फलस्वरूप महावीर अपने चैतन्य तत्त्व के विकास शिखर पर पहुंच गए।

वीतरागसाधना का मूलाधार ध्यान

महावीर की साधना जिसे हम वीतराग साधना कहते हैं जो वृत्तियों के दमन से या शमन से सम्बन्धित न होकर क्षपण से सम्बन्धित है, अतः वह क्षायिक साधना है। प्रश्न है उसका मूल आधार क्या है? वह कैसे एवं किस रूप में की जा सकती है?

---

1 न कामभोगा समयं उवेंति। —उत्तराध्ययन 32

हो रहा है उसे दखल, तो फिर द्वन्द्व कहा रह सकता है ? आकुलता कैसे रह सकती है ? ध्यान का अर्थ है—अपने को दखना अन्तमु ख होकर तटस्थभाव से अपनी स्थिति का सही निरीक्षण करना। सुख दु ख की मान-अपमान की हानि-लाभ की, जीवन मरण की जो भी शुभाशुभ घटनाएँ हो रही हैं, उन्हें केवल देखिए। रागद्वेष से परे होकर तटस्थभाव से देखिए। केवल देखना भर है देखने के सिवा और कुछ नहीं करना है। बस यही ध्यान है। शुभाशुभ का तटस्थ दर्शन शुद्ध स्व का तटस्थ निरीक्षण ! चेतना का बाहर से अन्दर में प्रवेश ! अन्दर में लीनता !

महावीर की साधना ध्यान की साधना थी। इतिहास में महावीर के तप की बहुत बड़ा प्रसिद्धि है। उनके कठोर एवं तीव्र तपश्चरण का काफी विस्तार से वर्णन है। परन्तु यदि कोई गहरा नजर डालकर अन्तर में देखे तो उस उत्त तप में भी ध्यान ही परिलक्षित होगा। उनका तप ध्यान के लिए था। यही बात है कि जहा कही ऐसा वर्णन आता है, वहाँ लिखा मिलता है कि—भगवान ध्यान में लीन रहे। सर्वप्रथम स्थान—शरीर की स्थिरता फिर मौन—वाणी की स्थिरता और फिर ध्यान—अन्तमन की स्थिरता। आज भी हम कायोत्सग की स्थिति में ध्यान करते समय यही कहते हैं—'ठाणेण मोणेण झाणेण अप्पाणं वोसिरामि'। महावीर के ध्यान का यही क्रम था। और इस प्रकार तप करते-करते महावीर का ध्यान हो जाता था अथवा यो कहिए कि ध्यान करते-करते—अन्तर्लीन होते होते तप हो जाता था। और यदि स्पष्टता के साथ वस्तुस्थिति का विश्लेषण किया जाए तो ध्यान स्वयं तप है। स्वयं भगवान् की भाषा में अनशन आदि तप बाह्य तप हैं। इनका सम्बन्ध शरीर से अधिक है। शरीर की भूख प्यास आदि को पहले निमन्त्रण देना और फिर उसे सहना यह बाह्य तप की प्रक्रिया है। और ध्यान अन्तरंग तप है अन्तरंग अर्थात अन्दर तप मन का तप भाव का तप स्व का स्व में उतर म लीन होना। महावीर की यह आत्माभिमुख र और सहज होती गई अर्थात् बढ़ती गई होन गए चचलता गई और धार निर्विकल्पता

उदासीनता अनाकुलता वीतरागता विकसित होती गई। ध्यान सहज होता गया हर क्षण हर स्थिति में होता गया। महावीर के जीवन में आकुलता व पीड़ा के, द्वन्द्व के एक से एक भीषण प्रसंग आए। किंतु महावीर अनाकुल रहे। निर्द्वन्द्व रहे। क्यों रहे? ऐसे रहे कि वे ध्यान योगी थे। अतएव वे हर अच्छी-बुरी घटना के तटस्थ दर्शक बनकर रह सकते थे। अपमान तिरस्कार के कटु प्रसंगों में और सम्मान सत्कार के मधुर क्षणों में उनकी अन्तश्चेतना सम रही, तटस्थ रही वीतराग रही। वे आने वाली या होने वाली हर स्थिति के केवल द्रष्टा रहे न कर्ता रहे और न भोक्ता। हम बाहर में उन्हें अवश्य कर्ता भोक्ता देखते हैं। किन्तु देखना तो यह है कि वे अन्दर में क्या थे? सुख दुःख का कर्ता भोक्ता विकल्पात्मक स्थिति में होता है। केवल द्रष्टा ही है जो शुद्ध निर्विकल्पात्मक ज्ञान चेतना का प्रकाश प्राप्त करता है।

महावीर का यह ध्यानकेन्द्र से सम्बन्धित समत्व दर्शन—उनका अपना स्वयंस्फूर्त सहज दर्शन था। आरोपित या किसी के द्वारा प्रशिक्षित नहीं। उन्होंने किसी गुरु से सुनकर या किसी शास्त्र में पढ़ कर समत्व की यह स्वीकृति अपने उपर आरोपित नहीं की थी कि— कोई कुछ भी कहे या करे। मुझे तो मेरे गुरु या शास्त्र का आदेश है कि मैं निन्दा और प्रशंसा में सुख और दुःख में, हानि और लाभ में सम रहूँ समान भाव से रहूँ।' इधर उधर से उधार लिए आरोपित ज्ञान से सच्ची समता एवं समानता उद्भासित नहीं होती। भेदातीतता की सहज स्थिति ही अन्दर और बाहर सर्वत्र अभेद का, समत्व का दर्शन करती है। वीतरागता साधना की वह स्थिति है जहाँ द्वन्द्वात्मक सभी भेद समाप्त हो जाते हैं फलतः आकुलता, व्याकुलता, उद्विग्नता और व्यग्रता का कहीं कोई अस्तित्व नहीं रहता। एक अखण्ड आनन्द एवं शक्ति की धारा बहने लगती है। और यह सब ध्यान का चमत्कार है और कुछ नहीं।

महावीर का ध्यान शुद्ध आत्मबोध पर आधारित था। उनके ध्यान में आरोपित उद्देश्य उपेक्षा या उदासीनता जैसी कोई स्थिति नहीं थी। क्योंकि दुःख है वहाँ कष्ट है क्या करूँ इसमें मुक्त कैसे होऊँ —ऐसा कुछ नहीं। 'सुख मिले तो कितना अच्छा हो जल्दी से

महावीर का जीवन दर्शन

पाँच

प्रज्ञान का अनत सागर

भगवान महावीर ने अपनी लम्बी साधना के द्वारा क्या प्राप्त किया और जनता को क्या दिया ? उनके प्रबोध प्रवचनो की उपयोगिता उस युग मे क्या थी और आज के युग म क्या है ? उनका जीवन दर्शन क्या था और क्या नही था ? प्रस्तुत सदर्भ म उक्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर कुछ चिंतन कर लेना आवश्यक है।

भगवान महावीर ने जो सत्य का प्रकाश प्राप्त किया था उसे शब्दो म अकित करना आसान नही है। बात यह है कि सत्य की अनुभूतियाँ उनकी अपनी थी अभिव्यक्ति के शब्द हमारे है। सत्य की उपलब्धिया उनकी अपनी थी अभिव्यक्ति के सकेत हमारे है। अत उनकी दिव्य अनुभूतियो की विराट उपलब्धियो का सम्यक बोध न हमारे विमर्शात्मक ज्ञान से हो सकता है और न हमारी आज की विश्लेषणात्मक वचनपद्धति से ही सभव है। हमारा ज्ञान सीमित है हमारे शब्दसकेत अपूर्ण हैं। उनकी प्रत्यक्ष अनुभूतिया हमारे लिए परोक्ष है। प्रत्यक्ष अनुभूतियो की परोक्ष अनुभूतियो के द्वारा कैसे अभिव्यक्ति दी जा सकती है ? अनन्त असीम अनुभूतियो को परिमित एव अपूर्ण साधनो के द्वारा अभिव्यक्त करना निश्चय ही असभव है। फिर भी लेखक का दायित्व है कि उसे कुछ न कुछ कहना ही चाहिए। भले ही वह अपूर्ण हो इसम

ध्यान वस्तुतः इसी संपूर्ण विकास का मार्ग है। महावीर का ध्यान संपूर्णता की इसी विकास-दिशा में अग्रसर था।

प्रश्न हो सकता है महावीर की साधना में साढ़े बारह वर्ष जितना लम्बा समय लगा। वह क्यों लगा? जब ध्यान तत्काल सिद्धि की साधना है तब क्यों इतनी देर हुई? ध्यान लगाते ही तत्काल कैवल्य क्यों नहीं हुआ? बात यह है कि महावीर का ध्यान प्रारम्भ में अन्तर्लीनता की पूर्ण स्थिति तक नहीं पहुंचा था। जो तीव्रता और गति ध्यान में होनी चाहिए थी वह नहीं हो सकी थी। यही कारण है कि वे आध्यात्मिक शुद्धि की प्राथमिक भूमिकाओं पर ही काफी देर तक अटके रहे आगे नहीं बढ़ सके, समुचित विकास प्राप्त नहीं कर सके। बाहर के तप और त्याग भले ही प्रारम्भ में उग्र एवं तीव्र रहे परन्तु ध्यान में तीव्रता नहीं आ सकी। क्रमशः अन्तर्लीनता की स्थिति आई ध्यान में तीव्रता आई ध्यान ने विकास की गति पकड़ी अन्तर्लीनता और गहरी हुई और उसी क्षण अन्तर्जगत कैवल्य के दिव्य आलोक से भर गया। जो काम वर्षों में नहीं हुआ वह कुछ क्षणों में ही हो गया।

महावीर का जीवन दर्शन | पाँच

प्रज्ञान का अनंत सागर

भगवान महावीर ने अपना लम्बी साधना के द्वारा क्या प्राप्त किया और जनता को क्या दिया ? उनके प्रबोध प्रवचनो की उपयोगिता उस युग मे क्या थी और आज के युग मे क्या है ? उनका जीवन दर्शन क्या था और क्या नहीं था ? प्रस्तुत सन्दर्भ मे उक्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर कुछ चिंतन कर लेना आवश्यक है।

भगवान महावीर ने जो सत्य का प्रकाश प्राप्त किया था, उसे शब्दो मे अंकित करना आसान नहीं है। बात यह है कि सत्य की अनुभूतियाँ उनकी अपनी थी अभिव्यक्ति के शब्द हमारे है। सत्य की उपलब्धियां उनकी अपनी थी अभिव्यक्ति के संकेत हमारे है। अत उनकी दिव्य अनुभूतियो का विराट उपलब्धियो का सम्यक बोध न हमारे विमर्शात्मक ज्ञान से हो सकता है और न हमारी आज की विश्लेषणात्मक वचनपद्धति से ही संभव है। हमारा ज्ञान सीमित है, हमारे शब्दसंकेत अपूर्ण हैं। उनकी प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ हमारे लिए परोक्ष है। प्रत्यक्ष अनुभूतियो का परोक्ष अनुभूतियो के द्वारा कैसे अभिव्यक्ति दी जा सकती है ? अनन्त असीम अनुभूतियो को परिमित एव अपूर्ण साधनो के द्वारा अभिव्यक्त करना निश्चय ही असंभव है। फिर भी लेखक का दायित्व है कि उसे कुछ न कुछ कहना ही चाहिए। भले ही वह अपूर्ण हो इसमे

प्रकाश से भर देती है। पुष्प से सौरभ स्वयं फलता है फलाया नहीं जाता दीपक से प्रकाश स्वयं जगमगाता है जगमगाया नहीं जाता। बात यह है कि पुष्प और दीपक को अपने विस्तार के लिए कोई योजना नहीं बनानी पड़ती अपने सौरभ एवं प्रकाश के प्रसार के लिए कोई उपक्रम नहीं रचने पड़ते। न विज्ञापन न प्रचार! न हल्ला न शोरगुल! जो कुछ विस्तार एवं प्रसार होता है वह सब बिना आयास के बिना प्रयास के होता है स्वतः और सहज होता है। भगवान महावीर का साधनोत्तर जीवनदर्शन लोककल्याण की दिशा में इसी प्रकार सहज भाव से विस्तार एवं प्रसार पाता गया। इस विस्तार एवं प्रसार में न कोई हठ था न कोई आग्रह। न कोई आदेश था न कोई अहम्। जो भी हुआ सहज हुआ अपने आप हुआ। आवेग के धक्के से होने वाली गति कुछ दूर चलकर क्षीण हो जाती है किन्तु सहज भाव से जन जीवन में प्रवृद्ध होने वाली बोध की धारा अबाधगति से महाकाल की सीमाओं को युगयुगान्तर को लाँघती चली जाती है। यही कारण है कि तब से लेकर अब तक महावीर का जीवनदर्शन कोटि कोटि मनुष्यों के जीवनविकास में दिशानिर्देश का काम करता आ रहा है।

सृजनात्मक क्रान्ति

भगवान् महावीर ने जीवन के समग्र पहलुओं पर प्रकाश डाला है। उन्होंने व्यक्ति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व से लेकर विश्व के विराट एवं व्यापक तत्त्वों तक की बोधदृष्टि दी है। उनका उपदेश व्यक्ति को वर्तमान समाज से पृथक् करके किसी पारलौकिक सुख के लिए तत्पर करना नहीं था। उनका उपदेश मानव की अन्तरात्मा को प्रबुद्ध करने के लिए था अंदर में सोये देवत्व को जगाने के लिए था और था अपने समग्र उचित दायित्वों को शान के साथ पूरा करने के लिए। उन्होंने धर्म एवं समाज के परम्परागत नियमोपनियमों को पहले से चले आ रहे पुराने मूल्यों को जो अनुपयोगी हो गए थे एक झटके से तोड़ा और तत्कालीन जनजीवन के लिए उपयोगी नये मूल्यों की स्थापना किया। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने उस युग की परम्परागत अच्छाइयों का भी विरोध किया हो उपयोगी व्यवस्थाओं को भी ध्वस्त किया हो।

देवताओं के भी वन्दनीय देवता हो जाता है। मानव देवों के चरणों में झुकने के लिए नहीं है, अपितु देव ही मानव के चरणों में झुकने के लिए हैं। शर्त है केवल अपने जीवन को परिमार्जित करने की। अहिंसा संयम और तप की धर्मज्योति जिसके जीवन में प्रज्वलित हो जाती है उसके लिए स्वर्ग के वैभव भी तुच्छ है देवता भी उसके पवित्र चरणों में श्रद्धानत हैं।[1]

यह केवल एक आदर्श ही नहीं था अपितु यथार्थ सत्य था। एक बार ऐसा हुआ कि देवराज इन्द्र ने अपने स्वर्गीय वैभव का मुक्त प्रदर्शन कर भगवान महावीर के भक्त राजा दशार्णभद्र को अपमानित करने की भूमिका रची। दशार्णभद्र असमंजस में पड़ गया। क्या करे क्या न करे? तभी भगवान महावीर ने कहा— दशार्ण क्या सोचते हो? तुम मनुष्य हो देवों से भी महान! अपनी अन्तःशक्ति को पहिचानो। जो तुम कर सकते हो वह इन्द्र नहीं कर सकता। भोग से त्याग पराजित नहीं होता त्याग से ही भोग पराजित होता है। अब क्या था दशार्णभद्र राज्य ऐश्वर्य का त्याग कर मुनि बन गए। उनके जीवन के कण कण में वैराग्य की ज्योति जल गई। इन्द्र भौतिक ऐश्वर्य के साथ तो स्पर्धा कर सकता था किन्तु त्याग मूलक आध्यात्मिक ऐश्वर्य के समक्ष हतप्रभ था। वह भक्तिगदगद हृदय से राजर्षि के चरणों में नतमस्तक हो गया। देवराज इन्द्र ने उस समय कहा था—

> सत्यप्रतिज्ञस्त्वं जातो निर्जितोऽहं पुरन्दर।
> गृहीतुमपि शक्तिर्न यन्नाहं त्वमिव क्षम॥

पुरुषार्थ को जगाओ!

महावीर का युग देववाद का युग था। तत्कालीन जन जीवन भय एवं प्रलोभन से प्रताडित था। जिधर देखो उधर ही जनता दुःखों एवं विपत्तियों से त्राण पाने के लिए देवताओं की ओर भागती फिरती थी। हजारों मन्दिर थे उनमें हजारों ही यक्ष भूत राक्षस आदि के नाम पर देवता प्रतिष्ठित थे। आत मानव उन यक्षों भूतों,

---

१ देवा वि त नमसन्ति जस्स धम्मे सया मणो। —दशवैकालिक १।१

राक्षसा एव देवताओ को प्रसन्न करने के लिए नाना प्रकार की पूजा करते फिरते थे। यज्ञ होते थे जिनमें पशुओं की बलियाँ दी जाती थी और यात्राएँ की जाती थी। और तो क्या, शान्ति के नाम पर मनुष्यों तक को अग्नि में होम कर दिया जाता था।

मानव में अन्धविश्वास की विडम्बना भी कुछ कम नही था। मनुष्य अपने स्वयं के पुरुषार्थ को भूलकर देवो से अन्याय की भिक्षा माँगता फिरता था। धन चाहिए तो लक्ष्मी से माँगो। कुबेर से मांगो। राज्यशासन चाहिए तो इन्द्र का आशीर्वाद लो। ब्रह्मा या विष्णु को मनाओ। बुद्धि चाहिए तो सरस्वती को प्रसन्न करो, गणेश को खुश करो। पुत्र चाहिए तो इस देव की उपासना करो, उस देव का वरदान लो। रोग निवृत्ति के लिए, शत्रु संहार के लिए, मान प्रतिष्ठा के लिए—बस एकमात्र सब कुछ देव ही देव! मनुष्य स्वयं कुछ नही। यह था अपने प्रति हीनभाव! मनुष्य एक तरह से देवताओ के हाथ का खिलौना बन गया था। 'मैं दीन हूँ! मैं हीन हूँ! मैं क्षुद्र हूँ! मैं तुच्छ हूँ! मैं कुछ नही कर सकता! जो कुछ करेंगे देवता ही करेंगे! वे सब शक्तिमान है वे महान है। और मैं! मैं कुछ नही! कुछ भी नही!' इस प्रकार रुदन से भरे निराश एवं हताश जन जीवन में महावीर की दिव्य ध्वनि गूँज उठी— मनुष्य, तू क्षुद्र नही है, दीन हीन नही है। तू तो अनन्त शक्ति का पुंज है दिव्यशक्ति का अक्षय स्रोत है। तू क्या नही है? तू सब कुछ है। तू क्या नही कर सकता? तू सब कुछ कर सकता है। तू सोया हुआ है इसलिए परेशान है हैरान है। तू जगा नही कि सब कुछ जग जाएगा—मति, कृति और शक्ति का कण कण जग जाएगा। कर्म ही तेरा असली देवता है जो कुछ पाना है अपने स्वयं के कृत कर्म से पाना है। मानव जीवन में दूसरा से लो—जैसा कुछ नही है जो भी है स्वयं करने जैसा है। न देने से कुछ नही होता जो होना है करने से होता है। महावीर के कर्मवाद का सन्देश मानव मानस को जगाने के लिए था अपने स्वयं के पुरुषार्थ के बल पर अपने भविष्य का निर्माण करने के लिए था।

मानव उतना जो ईश्वरवाद एवं देववाद के शिकंजे में जकडी हुई थी पुरुषार्थ पराक्रम और ...

चेतना नियति और परम्परा के घेरे में बंद थी। उसे सहसा एक झटका दिया, महावीर की पुरुषार्थप्रबोधिनी वाणी ने।

महावीर का कर्मवाद वास्तव में ईश्वरवाद और देववाद के विरोध में एक सबल मोर्चा था। उन्होंने कहा— जब सब तेरे भीतर है तो फिर किसी से माँगना क्या? कर्म कर, पुरुषार्थ कर! जो जैसा बीज बोयेगा, वह वैसा फल भी पायेगा, अवश्य पायेगा। जीवन की खेती में जो सत्कर्म का बीज डालेगा उसे शुभ, सुन्दर और सुखरूप अच्छा फल मिलेगा। और जो दुष्कर्म के बीज बोयेगा उसे दुःख, यंत्रणा और पीड़ा रूप बुरा फल मिलेगा।[1] देवता हो, या कोई और हो, कृत कर्मों से छुटकारा नहीं दिला सकता।

नैतिकता और सदाचार की मर्यादाएँ जो देववाद के नाम पर शिथिल हो चुकी थीं, महावीर के कर्मवाद से पुनः सुदृढ़ हुईं। समाज में सत्कर्म की प्रेरणाएँ जगीं, भलाई के सुन्दर प्रतिफल और बुराई के दुष्परिणामों से जनता में स्व-कर्म पर विश्वास हुआ। अपना कर्म ही अपना है, दूसरों के पुण्य से न हमें पुण्य मिलेगा और न दूसरे के पाप से हम पापभागी होंगे—यह है स्व-कर्म सिद्धान्त जिसने मानव की पतनोन्मुख नैतिक आस्था को स्थिर किया और उसके आचरण को सदाचार की सीमा में बाँधा।

इस प्रकार महावीर का दिव्य सन्देश श्रवण कर हजारों ही मानव जाग उठे, अपने को पहचान गए, अपने भाग्य का फैसला खुद करना सीख गए और उन्होंने चिरकाल से चली आई कल्पित देवों की कल्पित दासता के बंधनों को तोड़ फेंका।

आध्यात्मिक श्रेष्ठता

महावीर ने कहा—भौतिक ऐश्वर्य कर्मानुसार भोगने के लिए तो हो सकता है, पर वह महत्त्व और अहंकार के लिए नहीं है। मानव आत्मा का महत्त्व भौतिक उपलब्धि में उतना नहीं जितना आध्यात्मिक उपलब्धि में है। आध्यात्मिक विकास के समक्ष भौतिक विकास नगण्य है, श्रीहीन है। यह अध्यात्मविकास ही है जो

---

१ सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति॥
—औपपातिक समवसरण अधिकार

भौतिक दृष्टि से क्षुद्र मानव को देवताओं का भी देवता बना देता है।

भगवान महावीर की स्पष्ट घोषणा थी कि मनुष्य ही संयम की साधना कर सकता है देवता नहीं। अतएव आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से मनुष्य देवताओं से भी महान है। मनुष्य ही नहीं इस दिशा में तो देवताओं से पशु भी महान है। आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं में देव चतुर्थ भूमिका तक ही पहुँच पाते हैं जबकि पशु पंचम भूमिका तक पहुँच सकते हैं। और मनुष्य? मनुष्य का क्या कहना वह तो सभी अध्यात्म भूमिकाओं को पार कर चतुर्दश में परम चतुर्दश की आत्मा से परमात्मा की—पूर्ण शुद्ध स्थिति तक पहुँच सकता है। मनुष्य के विकास की संभावनाएँ अनन्त हैं, असीम हैं। उनकी इयत्ता नहीं है सीमा नहीं है। महावीर के दर्शन में ईश्वर भी मानव का सर्वोच्च आध्यात्मिक विकास ही है इतर और कुछ नहीं।

ईश्वर कौन है, कहाँ है?

मानव जाति ईश्वर के विषय में काफी भ्रान्त रही है। संभव है अन्य किसी विषय में उतनी भ्रान्त न रही हो जितनी कि ईश्वर के विषय में रही है। कुछ धर्मों ने ईश्वर को एक सर्वोपरि प्रभुसत्ता के रूप में माना है। वे कहते हैं— ईश्वर एक है अनादिकाल से वह सर्वसत्ता सम्पन्न एक ही चला आ रहा है। दूसरा कोई ईश्वर नहीं है। नहीं क्या दूसरा कोई ईश्वर हो ही नहीं सकता। वह ईश्वर अपनी इच्छा का राजा है। जो चाहता है वही करता है। वह असंभव को संभव कर सकता है और संभव को असंभव। जो हो सकता है उसे न होने दे और जो नहीं हो सकता उसे करके दिखा दे। जो किसी अन्य रूप में होने जैसा हो उसे किसी अन्य सर्वथा विपरीत रूप में कर दे। ऐसा है ईश्वर का तानाशाही व्यक्तित्व जिसे एक ईश्वरभक्त ने कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ कहा है। वह जगत का निर्माता है संहर्ता है। एक क्षण में वह विराट विश्व को बना सकता है और एक क्षण में उसे नष्ट भी कर सकता है। उसकी

लीला का कुछ पार नहीं है। उसकी मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। और वह रहता कहाँ है ? किसी का ईश्वर बैकुण्ठ में रहता है किसी का ब्रह्मलोक में तो किसी का सातवें आसमान पर रहता है तो किसी का समग्र विश्व में व्याप्त है।

ईश्वरीय सत्ता की उक्त स्थापना ने मनुष्य को पशु बना दिया है। उसने मानव में पराश्रित रहने की दुर्बल मनोवृत्ति पैदा की है। दैववाद के समान ही ईश्वरवाद भी मानव को भय एवं प्रलोभन के द्वार पर लाकर खड़ा कर देता है। वह ईश्वर से डरता है फलतः उसके प्रकोप से बचने के लिए वह नाना प्रकार के विचित्र क्रियाकाण्ड करता है। स्तोत्र पढ़ता है माला जपता है यज्ञ करता है मूक पशुओं की बलि देता है। वह समझता है कि इस प्रकार करने से ईश्वर मुझ पर प्रसन्न रहेगा मेरे सब अपराध क्षमा कर देगा मुझे किसी प्रकार का दण्ड न देगा। इस तरह ईश्वरीय उपासना मनुष्य को पापाचार से नहीं बचाती अपितु पापाचार के फल से बच निकलने की दूषित मनोवृत्ति को बढ़ावा देती है। मनुष्य को कर्तव्य निष्ठ नहीं अपितु खुशामदी बनाती है।

यही बात प्रलोभन के सम्बन्ध में है। मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न्यायोचित प्रयत्न करना चाहिए, जो पाना है उसके लिए अपने पुरुषार्थ पर भरोसा रखना चाहिए। परन्तु ईश्वरवाद मनुष्य को इसके विपरीत आत्मा निष्कर्मण्य एवं भिखारी बनाता है। अतएव मानव हर आवश्यकता के लिए ईश्वर से भीख माँगने लगा है। वह समझता है यदि ईश्वर प्रसन्न हो जाए तो वस कुछ का कुछ हो सकता है। ईश्वर के बिना मेरा भाग्य लिपि को कौन पलट सकता है ? कोई नहीं। और उक्त प्रलोभन से प्रभावित मनोवृत्ति का आखिर यही परिणाम होता है कि जैसे भी हो ईश्वर को प्रसन्न किया जाय और अपना मतलब साधा जाय !

आत्मा ही परमात्मा है

भगवान महावीर ने प्रस्तुत सन्दर्भ में मानव को एक नयी दृष्टि दी। उन्होंने कहा—मानव ! विश्व में तू ही सर्वोपरि है। यह दीनता और हीनता तेरे स्वयं के अज्ञान का दुष्फल है। जो तू अच्छा-बुरा

चेतना अनन्त प्रज्ञा मे परिवर्तित एव विकसित होकर परमात्मा हो जाती है। चेतना का शुद्ध रूप ही प्रज्ञा है जिसे दर्शन की भाषा म ज्ञानचेतना कहते है। बाहर के किसी प्रभाव का ग्रहण न करना ही अथात राग या द्वेष रूप म प्रभावित न होना ही चेतना का प्रज्ञा हो जाना है ज्ञानचेतना हो जाना है। यही आध्यात्मिक पवित्रता है वीतरागता है जो आत्मचेतना को परमात्मचेतना म रूपान्तरित करती है जन म जिन और नर स नारायण बना देती है। यह विकासप्रक्रिया क्रमिक है। जितना जितना प्रज्ञा के द्वारा चेतना का जड के साथ चला आया रागात्मक सपर्क टूटता जाता है जितना जितना भेदविज्ञान के आधार पर जड और चेतन का विभाजन गहरा और गहरा होता जाता है उतना उतना चेतना म परमात्मस्वरूप की अनुभूति स्पष्ट होती जाती है। अध्यात्म भाव की इस विकासप्रक्रिया को महावीर न गुणस्थान की सज्ञा दी है। चेतन अज्ञान दशा स मुक्ति पाने और स्व म प्रतिष्ठित होने के लिए जिस प्रकार ऊर्ध्वगति करता है उसके क्रमिक गतिक्रम या विकास क्रम को ही गुणस्थान कहा गया है। चेतन की शुद्ध शुद्धतर शुद्धतम भूमिका ही गुणस्थान की आरोहण पद्धति है।

आत्मा स परमात्मा होने की विकासप्रक्रिया के सबध म महावीर ने स्पष्ट घोषणा की है कि परमात्मा विश्वप्रकृति का द्रष्टा है स्रष्टा नही। स्रष्टा स्वय विश्वप्रकृति है। विश्वप्रकृति के दो मूल तत्त्व हैं—जड और चेतन। दोनो ही अपने अन्दर म कर्तृत्व का वह शक्ति लिए हैं जो स्वभाव स विभाव और विभाव स स्वभाव की ओर गतिशील रहता है। पर के निमित्त से होने वाली कर्तृत्व शक्ति विभाव है और पर के निमित्त से रहित स्वयसिद्ध सहज कर्तृत्व शक्ति स्वभाव है। जब चेतनातत्त्व पूर्ण शुद्ध होकर परमात्मचेतना का रूप लेता है तब वह पराश्रितता स मुक्त हो जाता है पर के कर्तृत्व का विकल्प उसम नही रहता स्व अपने स्व स्व रूप म पूर्णतया समाहित हो जाता है। यह चेतना का विभाव स स्वभाव म पूरी तरह वापस लौट आने की अन्तिम स्थिति है। और यह स्थिति ही वह परमात्म सत्ता है जो मानव जीवन की सर्वोत्तम शुद्ध चेतना मे प्रतिष्ठित है। इस प्रकार भगवान महावीर न ससार की

अंधरी गलियों म भटको मनुष्य को जीवनशुद्धि का दिव्य सन्देश देकर उस अनन ज्योतिमय ईश्वरत्व का स्वरूप प्रतिष्ठित किया। महावीर ईश्वर को जैसा कि कुछ लोग मान रहे थे शासन और शासन का प्रतीक नहीं अपितु शुद्धि का प्रतीक मानते थे। उनका कहना था कि मानव आत्मा जब पूर्ण शुद्धि की भूमिका पर जा पहुँचता है, तो वह सिद्ध हो जाती है आत्मा म परमात्मा हो जाती है। इस तरह महावीर ने ईश्वर सत्ता का नकारा नहीं किन्तु प्राणिमात्र म ईश्वर सत्ता की स्वीकृति दी है और उसे विकसित करने का मार्ग बताया है

मानव मानव एक समान

भगवान महावीर की व्यापक दृष्टि म मानव केवल मानव था, और कुछ नहीं। वे मानव जाति को एक अखण्ड समाज के रूप म देखते थे। उनका कहना था कि ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, मानवता की दृष्टि स उनम कुछ भी अन्तर नहीं है। सभी मानवों का जन्म एक ही तरह स होता है। सबके शरीर रक्त मास मज्जा और ओज के पिण्ड ह मल मूत्र स भरे है। अत जन्म की दृष्टि स न कोई ऊँचा है न कोई नीचा है। सब मानव एक है एक समान है। जन्म स किसी को पवित्र और किसी को अपवित्र मानना मानवता का अपमान है। विभिन्न जातियों के रूप म मनुष्यों का विभाजन यदि ऊँच नीच के आधार पर होता है तो वह सर्वथा अमानवीय है। इस प्रकार का विभाजन मानव समाज म परस्पर घृणा और वैर को जन्म देता है।

मानव जाति के उत्थान और पतन का इतिहास बताते हुए युग द्रष्टा भगवान महावीरने कहा था प्राचीन आदिम युग म जो अकर्म भूमि युग था सब मानव एक समान थे। वे केवल मानव नाम से ही सम्बोधित होते थे। उस युग म न कोई ब्राह्मण था न क्षत्रिय था, न वैश्य था और न कोई शूद्र ही था। न कोई ऊँचा था और न कोई नीचा था। आगे चलकर जब कर्मभूमियुग का आरम्भ हुआ तो अपने-अपने कर्तव्य-कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ग बन गए। यह मात्र कर्म का विभाजन था, जो समाज कल्याण की

दृष्टि से मानव की कर्मचेतना को विकासपथ पर व्यवस्थित रूप देने के लिए था। उक्त विभाजन में उस समय ऊंच नीच या पवित्र अपवित्र जैसी कोई कल्पना नही थी

महावीर के उपर्युक्त मानव इतिहास सम्बन्धी विश्लेषण का यह अर्थ है कि मानव मूल में केवल मानव था। कर्मयुग के आरंभ होने पर कर्त्तव्य कर्म के अनुसार जो ब्राह्मण क्षत्रिय आदि के वर्ग बने वे सामाजिक दायित्वों की पूर्ति के लिए थे। उनका कुछ और अर्थ नही था। आगे चलकर पवित्र अपवित्र तथा ऊंच नीच आदि की कल्पना का जो नग्न ताण्डव हुआ जिसके कारण मानव समाज खण्ड खण्ड हो गया शूद्र एवं अन्त्यज कहा जानेवाला एक वर्ग अमानवीय अन्याय अत्याचारों का शिकार हुआ उसका कारण कुछ लोगों का अपना अपना निहित स्वार्थ और अहंकार था अन्य कुछ नही।

प्राय होता ऐसा है कि सेवा कराने वाला शासक हो जाता है और सेवा करने वाला शासित। और शासक वर्ग जब प्रभुसत्ता के घोर अहंचक्र में उलझ जाता है तो अन्तत उसका यह कुफल होता है कि वह अपने को महान और दूसरों को हीन समझने लगता है। भारत में जातीय उच्चता व नीचता की भावना का यही एक मूल कारण है।

मानवीय गरिमा का दर्शन

आज के ये छूआछूत ऊँच नीच सवर्ण अवर्ण आदि जाति प्रथा के जितने भी दुर्विकल्प हैं उनका महावीर के दर्शन में कुछ भी स्थान नही है। महावीर का दर्शन मानवीय गरिमा का दर्शन है। ऐसी कोई भी व्यवस्था जिसमें मानवीय प्रतिष्ठा का गौरवमय विकास संभव न हो, महावीर को स्वीकार नही है। न जन्म से स्वीकार है न कर्म से स्वीकार है। सभी मानवों का जन्म से प्राप्त शरीर एक जैसा होता है—वही ब्राह्मण का वही क्षत्रिय का वही वैश्य का और वही शूद्र आदि का। अत उसमें पवित्र अपवित्र और ऊँच नीच आदि के भेद प्रभेद कैसे हो सकते हैं?

अब रहा कर्म का प्रश्न। अपने वैयक्तिक जीवन की या सामाजिक जीवन की तथाकथित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये

विश्वशांति के तीन सूत्र

छह

१

अहिंसा

भगवान महावीर का अहिंसाधर्म एक उच्चकोटि का आध्यात्मिक एवं सामाजिक धर्म है। यह मानव जीवन को अन्दर और बाहर—दोनों ओर से प्रकाशमान करता है। महावीर ने अहिंसा को भगवती कहा है। मानव की अन्तरात्मा को अहिंसा भगवती बिना किसी बाहरी दबाव भय आतंक अथवा प्रलोभन के सहज अन्तःप्रेरणा देता है कि मानव विश्व के अन्य प्राणियों को भी अपने समान ही समझे उनके प्रति बिना किसी भेद भाव के मित्रता एवं बन्धुता का प्रेमपूर्ण व्यवहार करे। मानव को जैसे अपना अस्तित्व प्रिय है अपना सुख अभीष्ट है वैसे ही अन्य प्राणियों को भी अपना अस्तित्व तथा सुख प्रिय एवं अभीष्ट है'—यह सह-अस्तित्वरूप परिबोध ही अहिंसा का मूल स्वर है। अहिंसा 'स्व' और 'पर' की अपने और पराये की घृणा एवं [illegible] खड़ी की गई भेदरेखा को तोड देती है।

अहिंसा विश्व के समग्र [illegible]
[illegible]न्ती है।

समानता पाता है। इसी दृष्टि से स्पष्ट करते हुए भगवान महावीर ने कहा था— सभी आत्मा आत्मा एक है एक रूप है एक समान है। चैतन्य की जाति कुल समाज राष्ट्र, स्त्री पुरुष आदि के ये जितने भी भेद हैं वे सब आरोपित भेद हैं बाह्य निमित्तों के द्वारा परिकल्पित किए गए मिथ्या भेद हैं। आत्मा के अपने मूल स्वरूप में कोई भेद नहीं है। और जब भेद नहीं है तो फिर मानवजाति में यह कलह एवं विग्रह कैसा? राग एवं मनोमालिन्य कैसा? घृणा एवं वैर कैसा? यह सब भेदबुद्धि की देन है। और अहिंसा में भेदबुद्धि के लिए कोई स्थान नहीं है। अहिंसा और भेदबुद्धि में न कभी समन्वय हुआ है और न कभी होगा। आज जो विश्व नागरिक की कल्पना कुछ प्रबुद्ध मस्तिष्कों में उड़ान ले रही है, 'जयजगत' का उद्घोष मुखरित हो रहा है उसको अहिंसा के द्वारा ही मूतरूप मिल सकता है।

अहिंसा की प्रक्रिया

अहिंसा मानव जाति को हिंसा से मुक्त करती है। वैर, वैमनस्य द्वेष कलह घृणा ईर्ष्या डाह दुःसंकल्प दुर्वचन क्रोध, अभिमान दम्भ लोभ लालच शोषण दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाज की ध्वंसमूलक विकृतियाँ हैं सब हिंसा के ही रूप हैं। मानव मन हिंसा के उक्त विविध प्रहारों से निरन्तर घायल होता आ रहा है। मानव उक्त प्रहारों के प्रतिकार के लिए भी कम प्रयत्नशील नहीं रहा है। परन्तु वह प्रतिकार इस लोकोक्ति को ही चरितार्थ करने में लगा रहा कि ज्यों ज्यों दवा की मर्ज बढ़ता ही गया। बात यह हुई कि मानव ने वैर का प्रतिकार वैर से, दमन का प्रतिकार दमन से करना चाहा अर्थात् हिंसा का प्रतिकार हिंसा से करना चाहा और यह प्रतिकार की पद्धति ऐसी ही थी जैसा कि आग को आग से बुझाना रक्त से सने वस्त्र को रक्त से धोना। वैर से वैर बढ़ता है घटता नहीं है। घृणा से घृणा बढ़ती है, घटती नहीं है। यह उक्त प्रतिकार ही था जिसमें से युद्ध का जन्म हुआ शूली और फाँसी का आविर्भाव हुआ। लाखों ही नहीं करोड़ों मनुष्य भयंकर-से भयंकर उत्पीड़न के शिकार हुए निर्दयता के

भगवान् महावीर की अहिंसा

भगवान महावीर ने अहिंसा का केवल आदर्श ही नहीं दिया, अपने जीवन में उतार कर उसकी शत प्रतिशत यथार्थता भी प्रमाणित की। उन्होंने अहिंसा के सिद्धान्त और व्यवहार को एक करके दिखा दिया। उनका जीवन उनके अहिंसायोग के महान आदर्श का ही एक जीता-जागता मूर्तिमान परिदर्शन था। विरोधी से विरोधी के प्रति भी उनके मन में कोई घृणा नहीं थी, कोई द्वेष नहीं था। वे उत्पीडक एवं घातक विरोधी के प्रति भी मंगल कल्याण की पवित्र भावना ही रखते रहे। संगम जैसे भयंकर उपसर्ग देने वाले व्यक्ति के लिए भी उनकी आँखें करुणा से गीली हो आई थीं। वस्तुतः उनका कोई विरोधी था ही नहीं। उनका कहना था—विश्व के सभी प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है, मेरा किसी के भी साथ कुछ भी वैर नहीं है—
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई।

भगवान महावीर का यह मैत्रीभावमूलक अहिंसाभाव इस चरम कोटि पर पहुँच गया था कि उनके श्री चरणों में सिंह और मृग, नकुल और सर्प—जैसे प्राणी भी अपना जन्मजात वैर भुला कर सहोदर बन्धु की तरह एक साथ बैठे रहते थे। न सबल में क्रूरता की स्थिति रहती थी और न निर्बल में भय, भय का आतंक। सभी ओर एक जैसा स्नेह का सद्भाव का व्यवहार! इसी सन्दर्भ में यह प्राचीन उक्ति है कि भगवान् के समवसरण में सिंहिनी का दूध मृगशिशु पीता रहता और हिरनी का सिंहशिशु—कुछ मन्त्रजनित स्नेहविकृति। भारत के आध्यात्मिक जगत का वह महान एवं चिरंतन सत्य भगवान् महावीर के जीवन पर से साक्षात साकार रूप में प्रकट हो रहा था कि साधक के जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा—पूर्ण जागृति होने पर उसके समक्ष जन्मजात वैरवृत्ति के प्राणी भी अपना वैर त्याग देते हैं, प्रेम की निर्मल धारा में अवगाहन करने लगते हैं—अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

२

अपरिग्रह

भगवान महावीर के चिन्तन में जितना महत्व अहिंसा को मिला उतना ही अपरिग्रह को भी मिला। उन्होंने अपने प्रवचनों में जहाँ-जहाँ आरंभ (हिंसा) का निषेध किया वहाँ-वहाँ परिग्रह का भी निषेध किया है। चूँकि मुख्यरूपेण परिग्रह के लिए ही हिंसा की जाती है अतः अपरिग्रह अहिंसा की पूरक साधना है।

परिग्रह क्या है?

प्रश्न खड़ा होता है परिग्रह क्या है? उत्तर आया होगा—धन धान्य, वस्त्र भवन पुत्र परिवार और अपना शरीर यह सब परिग्रह है। इस पर एक प्रश्न खड़ा हुआ होगा—कि यदि ये ही परिग्रह हैं तो फिर इनका सर्वथा त्यागकर कोई कैसे जी सकता है? जब शरीर भी परिग्रह है तो कोई अशरीर बनकर जीए क्या यह संभव है? फिर तो अपरिग्रह का आचरण असंभव है। असंभव और अशक्य धर्म का उपदेश भी निरर्थक है!

भगवान महावीर ने हर प्रश्न का अनेकांत दृष्टि से समाधान दिया है। परिग्रह की बात भी उन्होंने अनेकांत दृष्टि से निश्चित की और कहा—वस्तु परिवार और शरीर परिग्रह है भी और नहीं भी। मूलतः ये परिग्रह नहीं हैं क्योंकि ये तो बाहर में केवल वस्तु रूप हैं। परिग्रह एक वृत्ति है, जो प्राणी के अंतरंग चेतना की एक अशुद्ध स्थिति है अतः जब चेतना बाह्य वस्तुओं में आसक्ति मूर्च्छा ममत्व (मेरापन) का आरोप करती है तभी वे परिग्रह होते हैं अन्यथा नहीं। इसका अर्थ है—वस्तु में परिग्रह नहीं भावना में ही परिग्रह है। ग्रह एक चीज है परिग्रह दूसरी चीज है। ग्रह का अर्थ उचित आवश्यकता के लिए किसी वस्तु को उचित रूप में लेना एवं उसका उचित रूप में ही उपयोग करना। और परिग्रह का अर्थ है—उचित अनुचित का विवेक किए बिना आसक्ति रूप में वस्तुओं को सब ओर से पकड़ लेना, जमा करना, और उनका मर्यादाहीन गलत असामाजिक रूप में उपयोग करना। वस्तु न भी हो यदि उसकी आसक्तिमूलक मर्यादाहीन अभीप्सा है तो वह भी परिग्रह है। इसीलिए महावीर ने कहा था—मुच्छा परिग्गहो—मूर्च्छा, मन की ममत्वदशा ही वास्तव में परिग्रह है। जो साधक ममत्व से मुक्त हो जाता है वह सोने चाँदी

के पहाड़ा पर बैठा हुआ भी अपरिग्रही कहा जा सकता है। इस प्रकार भगवान महावीर न परिग्रह की एकान्त जडवादी परिभाषा को ताडकर उस भाववादी चैतन्यवादी परिभाषा दी।

अपरिग्रह का मौलिक अर्थ

भगवान महावीर ने बताया अपरिग्रह का सीधा सादा अर्थ है—निस्पृहता निरीहता। इच्छा ही सबसे बडा बंधन है, दुःख है। जिसने इच्छा का निरोध कर दिया—उसे मुक्ति मिल गई। इच्छा मुक्ति ही वास्तव में संसारमुक्ति है। इसलिए सबसे प्रथम इच्छाओं पर, आकांक्षाओं पर संयम करने का उपदेश महावीर ने दिया। बहुत से साधक जिनकी चेतना इतनी प्रबुद्ध होती है कि वे अपनी संपूर्ण इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं महाव्रती संयमी के रूप में पूर्ण अपरिग्रह के पथ पर बढ़ते है। किंतु इससे अपरिग्रह केवल संन्यास क्षेत्र की ही साधना मात्र बनकर रह जाता है, अतः सामाजिक क्षेत्र में अपरिग्रह की अवतारणा के लिए उसे गृहस्थधर्म के रूप में भी एक परिभाषा दी गई। महावीर ने कहा - सामाजिक प्राणी के लिए इच्छाओं का संपूर्ण निरोध आसक्ति का समूल विलय—यदि संभव न हो तो वह आसक्ति को क्रमशः कम करने की साधना कर सकता है, इच्छाओं को सीमित करके ही वह अपरिग्रह का साधक बन सकता है।

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त है उनका जितना विस्तार करते जाओ वे उतनी ही व्यापक, असीम बनती जाएगी और उतनी ही चिंताएं कष्ट अशांति बढती जाएँगी। इच्छाएँ सीमित होगी, तो चिंता और अशांति भी कम होगी। इच्छाओं को नियंत्रित करने के लिए महावीर ने 'इच्छापरिमाणव्रत' का उपदेश किया। यह अपरिग्रह का सामाजिक रूप था। बडे-बडे धनकुबेर श्रीमंत एवं सम्राट भी अपनी इच्छाओं को सीमित नियंत्रित कर मन को शांत एवं प्रसन्न रख सकते है। और साधनहीन साधारण लोग भी, जिनके पास सम्राटों जैसे खोड साधन तो नहीं होते पर इच्छाएं असीम दौड लगाती रहती है वे भी इच्छापरिमाण के द्वारा समाजोपयोगी उचित आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए भी अपने अनियंत्रित इच्छाप्रवाह के सामने अपरिग्रह का एक आंतरिक अवरोध खड़ा कर उसे रोक सकते है।

इच्छापरिमाण—एकप्रकार से स्वामित्व विसजनकी प्रक्रिया थी। महावार के समक्ष जब वगाली का आनन्द श्रष्टी इच्छापरिमाण व्रत का सकल्प लेने उपस्थित हुआ, ता महावीर ने बताया— तुम अपनी आवश्यकताआ का सीमित करो जो अपार साधन सामग्री तुम्हारे पास है उसका पूण रूप म नहा ता उचित सीमा म विसजन करा। एक सीमा से अधिक अथ—धन पर अपना अधिकार मत रखो आवश्यक क्षत्र, वास्तु रूप भूमि स अधिक भूमि पर अपना स्वामित्व मत रखा इसा प्रकार पशु, दास दासी आदि को भी अपने सीमाहीन अधिकार स मुक्त करा।

स्वामित्वविसजन का यह सात्विक प्रेरणा थी जा समाज म सपत्ति क आधार पर फली अनगल विषमताआ का प्रतिकार करने म सफल सिद्ध हुई। मनुष्य जब आवश्यकता स अधिक सपत्ति व वस्तु क सग्रह पर स अपना अधिकार हटा लता है, ता वह समाज और राष्ट्र क उपयाग के लिए उन्मुक्त हा जाती है, इसप्रकार अपने आप हा एक सहज समाजवादी अन्तरप्रक्रिया प्रारभ हा जाती है।

भोगापभोग एव दिशा परिमाण

मानव सुखाभिलाषी प्राणी है। वह अपन सुख के लिए नाना प्रकार क भोगोपभोगा का परिकल्पना के माया जाल मे उलझा रहता है। यह भाग बुद्धि ही अनथ की जड है। इसक लिए ही मानव अथ सग्रह एव परिग्रह के पीछे पागल की तरह दाड रहा है। जब तक भोगबुद्धि पर अकुश नही लगगा तब तक परिग्रह-बुद्धि स मुक्ति नहा मिलगी।

यह ठीक है कि मानव जीवन भोगापभोग स सवथा मुक्त नही हा सकता। शरार है उसकी कुछ अपेक्षाएँ। उन्ह सवथा कसे ठुकराया जा सकता है। अत महावीर आवश्यक भोगापभाग स नही, अपितु अमयादित भोगापभाग स मानव की मुक्ति चाहत थे। उन्हान इसके लिए भाग के सवथा गकर, भोगाप भाग परिमाण का व्रत बताया मूल भाग यथाचित आवश्यकता नी भा अपन आप स

उपदिष्ट भोगोपभोगपरिमाण व्रत म भी अपरिग्रह स्वत फलित हो जाता है।

महावीर न अपरिग्रह के लिए दिशा परिमाण और देशाव कासिक व्रत भी निश्चित किए थे। इन व्रतो का उद्देश्य भी आस पास के देशो एव प्रदेशो पर होन वाले अनुचित व्यापारिक, राजकीय एव अन्य शोषणप्रधान आक्रमणो स मानव समाज को मुक्त करना था। दूसरे देशो की सीमाओ अपेक्षाओ एव स्थितियो का योग्य विवक रख बिना भोग वासना पूर्ति के चक्र म इधर उधर अनियन्त्रित भाग दौड करना महावीर के साधना क्षेत्र म निषिद्ध था। आज के शोषणमुक्त समाज की स्थापना के विश्व मगल उद्घोष म, इसप्रकार महावीर का चिन्तन स्वर पहले स ही मुखरित होता आ रहा है।

परिग्रह का परिष्कार, दान

पहले के सचित परिग्रह की निर्मलता उसका उचित वितरण है। प्राप्त साधनो का जनहित म विनियोग दान है जो भारत की विश्व मानव को एक बहुत बडी देन है किन्तु स्वामित्व विसर्जन की उक्त दान प्रक्रिया म कुछ विकृतिया आगई थी अत महावीर न चालू दानप्रणाली म भी सशोधन प्रस्तुत किया। महावीर ने देखा, लोग दान तो करते है किंतु दान के साथ उनके मन म आसक्ति एव अहकार की भावनाएँ भी पनपती है। वे दान का प्रतिफल चाहते है— यश, कीर्ति बडप्पन स्वर्ग और देवताओ की प्रसन्नता। आदमी दान तो देता था पर वह याचक की विवशता या गरीबी के साथ प्रतिष्ठा और स्वर्ग का सौदा भी कर लेना चाहता था। इस प्रकार का दान समाज म गरीबी को बढावा देता था दाताओ के अहकार को प्रोत्साहित करता था। महावीर ने इस गलत दान भावना का परिष्कार किया। उन्होने कहा—किसी को कुछ मात्र ही दान धर्म नही है अपितु निष्कामबुद्धि से जनहित म करना, सहोदर बधु के भाव से [illegible] ऐसा देना [illegible] दाता बिना किसी प्रकार के अह[illegible]
हुए सहज सहयोग की पवित्र
म दान है। इसीलिए [illegible]
सविभाग—

लिए भगवान् का गुरु गभीर घोष था कि सविभागी को ही मोक्ष है असविभागी को नही— असविभागी न हु तस्स मोक्खो।

वैचारिक अपरिग्रह

भगवान महावीर ने परिग्रह के मूल मानव मन की बहुत गहराई म देखे। उनकी दृष्टि म मानवमन की वैचारिक अहता एव आसक्ति की हर प्रतिबद्धता परिग्रह है। जातीय श्रेष्ठता भाषागत पवित्रता, स्त्री पुरुषो का शरीराश्रित अच्छा बुरापन परम्पराओ का दुराग्रह आदि समग्र वैचारिक आग्रहो मान्यताओ एव प्रतिबद्धताओ को महावीर ने आतरिक परिग्रह बताया और उनसे मुक्त होने की प्रेरणा दी। महावीर ने स्पष्ट कहा कि विश्व की मानव जाति एक है। उसम राष्ट्र समाज एव जातिगत उच्चता-नीचता जैसी कोई चीज नही। कोई भी भाषा शाश्वत एव पवित्र नही है। स्त्री और पुरुष आत्मदृष्टि से एक है कोई ऊचा-नीचा नही है। इसी तरह के अय सब सामाजिक तथा साप्रदायिक आदि भेद विकल्पो को महावीर ने औपाधिक बताया स्वाभाविक नही। इस प्रकार भगवान महावीर ने मानव चेतना को वैचारिक परिग्रह से भी मुक्त कर उसे विशुद्ध अपरिग्रह भाव पर प्रतिष्ठित किया।

भगवान महावीर के अपरिग्रहवादी चितन की पाच फलश्रुतिया आज हमारे समक्ष हैं—

१ इच्छाओ का नियमन
२ समाजोपयोगी साधनो के स्वामित्व का विसर्जन
३ शोषणमुक्त समाज की स्थापना
४ निष्कामबुद्धि से अपने साधनो का जनहित म सविभाग—दान।
५ अध्यात्मिक शुद्धि।

उपदिष्ट भोगोपभोगपरिमाण' व्रत में से अपरिग्रह स्वत फलित हो जाता है।

महावीर ने अपरिग्रह के लिए दिशा परिमाण और देशाव काशिक व्रत भी निश्चित किए थे। इन व्रतो का उद्देश्य भी आस पास के देशो एव प्रदेशो पर होने वाले अनुचित व्यापारिक, राजकीय एव अन्य शोषणप्रधान आक्रमणो से मानव समाज को मुक्त करना था। दूसरे देशो की सीमाओ अपेक्षाओ एव स्थितियो का योग्य विवेक रखे बिना भोग वासनापूर्ति के क्षेत्र मे इधर उधर अनियन्त्रित भाग दौड करना महावीर के साधना क्षेत्र मे निषिद्ध था। आज के शोषणमुक्त समाज की स्थापना के विश्व मगल उद्घोष मे इसप्रकार महावीर का चिन्तन स्वर पहले से ही मुखरित होता आ रहा है।

परिग्रह का परिष्कार, दान

पहले के सचित परिग्रह की चिकित्सा उसका उचित वितरण है। प्राप्त साधनो का जनहित मे विनियोग दान है जो भारत की विश्व मानव को एक बहुत बडी देन है किन्तु स्वामित्व विसर्जन की उक्त दान प्रक्रिया मे कुछ विकृतिया आगई थी अत महावीर ने चालू दानप्रणाली मे भी सशोधन प्रस्तुत किया। महावीर ने देखा लोग दान तो करते हैं किंतु दान के साथ उनके मन मे आसक्ति एव अहकार की भावनाएँ भी पनपती है। वे दान का प्रतिफल चाहते हैं– यश, कीर्ति बडप्पन स्वर्ग और देवताओ की प्रसन्नता। आदमी दान तो देता था, पर वह याचक की विवशता या गरीबी के साथ प्रतिष्ठा और स्वर्ग का सौदा भी कर लेना चाहता था। इस प्रकार का दान समाज मे गरीबी को बढावा देता था दाताओ के अहकार को प्रोत्साहित करता था। महावीर ने इस गलत दान भावना का परिष्कार किया। उन्होने कहा– किसी को कुछ देना मात्र ही दान धर्म नही है अपितु निष्कामबुद्धि से जनहित मे सविभाग करना, सहोदर बधु के भाव से उचित हिस्सा देना दान धर्म है। दाता बिना किसी प्रकार के अहकार व भौतिक प्रलोभन से ग्रस्त हुए सहज सहयोग की पवित्र बुद्धि से दान करे—वही दान वास्तव मे दान है। इसीलिए भगवान् महावीर दान को सविभाग कहते थे। सविभाग—अर्थात् सम्यक उचित, विभाजन बटवारा। और इसके

लिए भगवान का गुरु गभीर घोष था कि सविभागी को ही मोक्ष है असविभागी को नही— असविभागी न हु तस्स मोक्खो ।

वचारिक अपरिग्रह

भगवान महावीर ने परिग्रह के मूल मानव मन की बहुत गहराई म देखे। उनकी दृष्टि मे मानवमन की वचारिक अहता एव आसक्ति की हर प्रतिबद्धता परिग्रह है। जातीय श्रेष्ठता भाषागत पवित्रता, स्त्री पुरुषो का शरीराश्रित अच्छा बुरापन परम्पराओ का दुराग्रह आदि समग्र वचारिक आग्रहो मान्यताओ एव प्रतिबद्धताओ को महावीर ने आन्तरिक परिग्रह बताया और उसस मुक्त होने की प्ररणा दी। महावीर ने स्पष्ट कहा कि विश्व की मानव जाति एक है। उसम राष्ट समाज एव जातिगत उच्चता-नीचता जसी कोइ चीज नही। कोई भी भाषा शाश्वत एव पवित्र नही है। स्त्री और पुरुष आत्मदृष्टि स एक है कोइ ऊचा-नीचा नही है। इसी तरह क अन्य सब सामाजिक तथा साम्प्रदायिक आदि भेद विकल्पो का महावीर ने औपाधिक बताया स्वाभाविक नही। इस प्रकार भगवान महावीर ने मानव चतना का वचारिक परिग्रह स भी मुक्त कर उसे विशुद्ध अपरिग्रह भाव पर प्रतिष्ठित किया।

भगवान महावीर क अपरिग्रहवादी चिन्तन का पाँच फलश्रुतियाँ आज हमारे समक्ष है—

१ इच्छाओ का नियमन
२ समाजोपयोगी साधनो के स्वामित्व का विसजन
३ शोषणमुक्त समाज की स्थापना
४ निष्कामबुद्धि स अपने साधनो का जनहित म सविभाग—दान।
५ अध्यात्मिक शुद्धि।

३ अनेकांत

भगवान महावीर ने जितनी गहराई के साथ अहिंसा और अपरिग्रह का विवेचन किया, अनेकांत दर्शन के चिंतन में भी वे उतने ही गहरे उतरे। अनेकांत को न केवल एक दर्शन के रूप में, किंतु सर्वमान्य जीवन धर्म के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय महावीर को ही है। अहिंसा और अपरिग्रह के चिंतन में भी उन्होंने अनेकांत दृष्टि का प्रयोग किया। प्रयोग ही क्या, यहाँ तक कहा जा सकता है कि अनेकांत रहित अहिंसा और अपरिग्रह भी महावीर को मान्य नहीं थे।

आप शायद चौंकेंगे, यह कैसे? किंतु वस्तु स्थिति यही है। चूंकि प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सत्ता, प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक विचार अनन्त धर्मात्मक है। उसके विभिन्न पहलू, विभिन्न पक्ष होते हैं। उन पहलुओं और पक्षों पर विचार किए बिना यदि हम कुछ निर्णय करते हैं तो यह उस वस्तु तत्त्व के प्रति स्वरूपघात होगा, वस्तुविज्ञान के साथ अन्याय होगा और स्वयं अपनी ज्ञान चेतना के साथ भी एक धोखा होगा। किसी भी वस्तु के तत्व-स्वरूप पर चिंतन करने में पहले हम अपनी दृष्टि को पूर्वाग्रहों से मुक्त, स्वतन्त्र और व्यापक बनाना होगा, उसके प्रत्येक पहलू को अस्ति, नास्ति आदि विभिन्न विकल्पों द्वारा परखना होगा, तभी हम उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। अहिंसा और अपरिग्रह के विषय में भी यही बात है, इसलिए मैंने कहा, महावीर के अहिंसा और अपरिग्रह भी अनेकांतात्मक थे।

अहिंसात्मक अनेकांतवाद का एक उदाहरण लीजिए। भगवान महावीर ने साधक के लिए सर्वथा हिंसा का निषेध किया।[1] किसी भी प्रकार की हिंसा का समर्थन उन्होंने नहीं किया। किन्तु जनकल्याण की भावना से किसी उदात्त ध्येय की प्राप्ति के लिए तथा वीतराग जीवन चर्या में भी कभी कहीं परिस्थितिवश अनचाहे भी जो सूक्ष्म या स्थूल प्राणिघात हो जाता है, उस विषय में उन्होंने कभी एकांत निवृत्ति का आग्रह नहीं किया, अपितु व्यवहार में उस प्राणिहिंसा

---

१ सव्वाओ पाणाइवायाओ विरमणं। — ठाणांग सूत्र

को हिंसा स्वीकार करके भी उस निश्चय मे हिंसा की परिधि से मुक्त माना। क्योंकि उन्होंने अहिंसा की मौलिक तत्त्व दृष्टि से बाहर मे दृश्यमान प्राणिवध को नही, किंतु रागद्वेषात्मक अन्तरवृत्ति को प्रमत्तयोग को ही हिंसा बताया, कर्मबन्धन का हेतु कहा यही उनका अहिंसा के क्षेत्र मे अनेकातवादी चिंतन था।

परिग्रह और अपरिग्रह के विषय मे भी महावीर बहुत उदार और स्पष्ट थे। यद्यपि जहाँ परिग्रह की गणना की गई वहाँ वस्त्र पात्र, भोजन, भवन आदि बाह्य वस्तुओं को यहाँ तक कि शरीर को भी परिग्रह की परिगणना मे लिया गया किन्तु जहाँ परिग्रह का तात्विक प्रश्न आया वहाँ उन्होंने मूर्च्छा भाव के रूप मे परिग्रह की एक स्वतंत्र एवं व्यापक व्याख्या की। महावीर वस्तुवादी नही भाववादी थे अतः उनका अपरिग्रह का सिद्धान्त बाह्य जड वस्तुवाद मे कैसे उलझ जाता ? उन्होंने स्पष्ट घोषणा की वस्तु परिग्रह नही भाव ही (ममता) परिग्रह है। मन की मूर्च्छा आसक्ति और रागात्मक विकल्प—यही परिग्रह है बंधन है।

इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे चिंतन के हर नये मोड पर महावीर 'हाँ-और-ना' के साथ चले। उनका उत्तर अस्ति-नास्ति के साथ अपेक्षापूर्वक होता था। एकान्त अस्ति या एकांत नास्ति जैसा निरपेक्ष कुछ भी उनके तत्त्व दर्शन मे न था।

अपने शिष्यों से महावीर ने स्पष्ट कहा था— सत्य अनन्त है विराट है। कोई भी अल्पज्ञानी सत्य को सम्पूर्ण रूप से जान नही सकता। जो जानता है वह उसका केवल एक पहलू होता है एक अंश होता है। केवल सर्वदर्शी जो सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार कर लेता है वह भी उस अनंत सत्य को वाणी द्वारा पूर्णरूप से अविकल व्यक्त नही कर सकता।' इस स्थिति मे सत्य को संपूर्ण रूप से जानने का और समग्र रूप से कथन करने का दावा कौन कर सकता है ? हम जो कुछ देखते हैं वह एक पक्षीय होता है। और जो कुछ कथन करते हैं वह भी एक पक्षीय ही है। वस्तुसत्य के सम्पूर्ण स्वरूप को

---

२ पमायं कम्ममाहंसु। —सूत्रकृतांग १।८।३

३ मुच्छा परिग्गहो। —दशवैकालिक

३ अनेकांत

भगवान महावीर ने जितनी गहराई के साथ अहिंसा और अपरिग्रह का विवेचन किया, अनेकांत दर्शन के चितन में भी वे उतने ही गहरे उतरे। अनेकांत को न केवल एक दर्शन के रूप में, किंतु सर्वमान्य जीवन धर्म के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय महावीर का ही है। अहिंसा और अपरिग्रह के चितन में भी उन्होंने अनेकांत दृष्टि का प्रयोग किया। प्रयोग ही क्या, यहाँ तक कहा जा सकता है कि अनेकांत रहित अहिंसा और अपरिग्रह भी महावीर को मान्य नहीं थे।

आप शायद चौंकेंगे, यह क्यों? किंतु वस्तुस्थिति यही है। चूंकि प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सत्ता, प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक विचार अनन्त धर्मात्मक है। उसके विभिन्न पहलू, विभिन्न पक्ष होते हैं। उन पहलुओं और पक्षों पर विचार किए बिना यदि हम कुछ निर्णय करते हैं तो यह उस वस्तु तत्त्व के प्रति स्वरूपघात होगा, वस्तुविज्ञान के साथ अन्याय होगा और स्वयं अपनी ज्ञान चेतना के साथ भी एक धोखा होगा। किसी भी वस्तु के तत्त्व-स्वरूप पर चितन करने से पहले हमें अपनी दृष्टि को पूर्वाग्रहों से मुक्त, स्वतन्त्र और व्यापक बनाना होगा, उसके प्रत्येक पहलू को अस्ति, नास्ति आदि विभिन्न विकल्पों द्वारा परखना होगा, तभी हम उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। अहिंसा और अपरिग्रह के विषय में भी यही बात है, इसलिए मैंने कहा - महावीर के अहिंसा और अपरिग्रह भी अनेकांतात्मक थे।

अहिंसात्मक अनेकांतवाद का एक उदाहरण लीजिए। भगवान महावीर ने साधक के लिए सर्वथा हिंसा का निषेध किया।[1] किसी भी प्रकार की हिंसा का समर्थन उन्होंने नहीं किया। किन्तु जनकल्याण की भावना से किसी उदात्त ध्येय की प्राप्ति के लिए तथा वीतराग जीवन चर्या में भी कभी कहीं परिस्थितिवश अनचाहे भी जो सूक्ष्म या स्थूल प्राणिघात हो जाता है, उस विषय में उन्होंने कभी एकांत निवृत्ति का आग्रह नहीं किया, अपितु व्यवहार में उस प्राणिहिंसा

---

१ सव्वाओ पाणाइवायाओ विरमणं। —स्थानांग सूत्र

को हिंसा स्वीकार करके भी उसे निश्चय में हिंसा की परिधि से मुक्त माना। क्योंकि उन्होंने अहिंसा की मौलिक तत्त्व दृष्टि से बाहर में दृश्यमान प्राणिवध को नहीं, किंतु रागद्वेषात्मक अन्तरवृत्ति को प्रमत्तयोग[२] को ही हिंसा बताया, कर्मबंधन का हेतु कहा, यही उनका अहिंसा के क्षेत्र में अनेकांतवादी चिंतन था।

परिग्रह और अपरिग्रह के विषय में भी महावीर बहुत उदार और स्पष्ट थे। यद्यपि जहाँ परिग्रह की गणना की गई वहाँ वस्त्र पात्र भाजन भवन आदि बाह्य वस्तुओं को यहाँ तक कि शरीर को भी परिग्रह की परिगणना में लिया गया किन्तु जहाँ परिग्रह का तात्त्विक प्रश्न आया, वहाँ उन्होंने मूर्च्छा भाव के रूप में परिग्रह की एक स्वतंत्र एवं व्यापक व्याख्या की। महावीर वस्तुवादी नहीं भाववादी थे अतः उनका अपरिग्रह का सिद्धान्त बाह्य जड़ वस्तुवाद में कैसे उलझ जाता? उन्होंने स्पष्ट घोषणा की वस्तु परिग्रह नहीं भाव ही (ममता) परिग्रह है। मन की मूर्च्छा आसक्ति और रागात्मक विकल्प—यही परिग्रह है बंधन है।[३]

इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चिंतन के हर नये मोड़ पर महावीर 'हाँ-और-ना' के साथ चले। उनका उत्तर अस्ति नास्ति के साथ अपेक्षापूर्वक होता था। एकान्त अस्ति या एकांत नास्ति जैसा निरपेक्ष कुछ भी उनके तत्त्व दर्शन में न था।

अपने शिष्यों से महावीर ने स्पष्ट कहा था— सत्य अनंत है विराट है। कोई भी अल्पज्ञानी सत्य को सम्पूर्ण रूप से जान नहीं सकता। जो जानता है वह उसका केवल एक पहलू होता है एक अंश होता है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी जो सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार कर लेता है वह भी उस ज्ञात सत्य को वाणी द्वारा पूर्णरूप से अविकल व्यक्त नहीं कर सकता।" इस स्थिति में सत्य को संपूर्ण रूप से जानने का और समग्र रूप से कथन करने का दावा कौन कर सकता है? हम जो कुछ देखते हैं वह एक पक्षीय होता है। और जो कुछ कथन करते हैं वह भी एक पक्षीय ही है। वस्तुसत्य के सम्पूर्ण स्वरूप का

---

२ पमायं कम्ममाहंसु। —सूत्रकृतांग १।८।३

३ मुच्छा परिग्गहो। —दशवैकालिक

न हम एक साथ पूर्णरूप से देख सकते हैं, न कथन कर सकते हैं, फिर अपने दर्शन को एकान्तरूप से पूर्ण यथार्थ और अपने कथन को एकान्त सत्य करार देकर दूसरों के दर्शन और कथन को असत्य घोषित करना, क्या सत्य के साथ अन्याय नहीं है ?

इस तथ्य को हम एक अन्य उदाहरण से भी समझ सकते हैं। एक विशाल एवं उत्तुंग मृण्मय पर्वत है समझ लीजिए हिमालय है। अनेक पर्वतारोही विभिन्न मार्गों से उस पर जाते हैं और भिन्न भिन्न दिशाओं की ओर से उसके चित्र लेते हैं। कोई पूरब से तो कोई पश्चिम से कोई उत्तर से तो कोई दक्षिण से। यह तो निश्चित है कि विभिन्न दिशाओं से लिए गए चित्र परस्पर एक दूसरे से कुछ भिन्न ही होंगे फलस्वरूप देखने में वे एक दूसरे से विपरीत ही दिखाई देंगे। इस पर यदि कोई हिमालय की एक दिशा के चित्र को ही सही बताकर अन्य दिशाओं के चित्रों को झूठा बताये या उन्हें हिमालय के चित्र मानने से ही इन्कार कर दे तो उसे आप क्या कहेंगे ?

वस्तुत सभी चित्र एक पक्षीय हैं। हिमालय की एक देशीय प्रतिच्छवि ही उनमें अंकित है। किंतु हम उन्हें असत्य और अवास्तविक तो नहीं कह सकते। सब चित्रों को यथाक्रम मिलाइए तो हिमालय का एक पूर्ण रूप आपके सामने उपस्थित हो जायगा। खण्ड खण्ड हिमालय एक अखण्ड आकृति ले लेगा और इसके साथ हिमालय के दृश्यों का खण्ड खण्ड सत्य एक अखण्ड सत्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति देगा।

यही बात विश्व के समग्र सत्यों के सम्बन्ध में है। कोई भी सत्य हो, उसके एक पक्षीय दृष्टि कोणों को लेकर अन्य दृष्टि कोणों का अपलाप या विरोध नहीं होना चाहिए किंतु उन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दृष्टि कोणों के यथार्थ समन्वय का प्रयत्न होना चाहिए। दूसरों को असत्य घोषित कर स्वयं को ही सत्य का एक मात्र ठेकेदार बताना एक प्रकार का अज्ञान भरा अंध अहं है, दम्भ है छलना है। भगवान महावीर ने कहा है सपूर्ण सत्य को समझने के लिए सत्य के समस्त अंगों का अनाग्रह पूर्वक अवलोकन करो और फिर उनका अपेक्षा पूर्वक कथन करो।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

भगवान् महावीर का वह चिन्तन जो अहिंसावादी अनेकान्तवादी जैसा था और उसका कथन शैली स्याद्वाद के नाम से प्रचलित हुई। अनेकान्त वस्तु में अनन्त धर्म और नय दृष्टि स्वरूप है वह वस्तुपरक होता है और स्याद्वाद भाषा से वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करता है अतः वह शब्दात्मक होता है। जन साधारण इतना सूक्ष्म भेद न कर सकने से दोनों को पर्यायवाची मान लेता है। वस्तुतः दोनों में ही अन्तर भी है।

सरल भाषा में एक उदाहरण के द्वारा महावीर के अनेकान्त एवं स्याद्वाद का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है — जब एक कच्चा आम को देखता है तो सहसा कह उठता है — आम हरा है, खट्टा है। इस कथन में आम में रहे हुए अन्य गंध, रस आदि वर्तमान गुण धर्मों का तथा भविष्य में परिवर्तित होने वाले पीत वर्ण, माधुर्य आदि परिणमन स्वभावों की सहज उपेक्षा हो गई है। निषेध नहीं, उपेक्षा किया गया है। और वर्तमान में जिस वर्ण एवं रस का विशिष्ट अनुभव हो रहा है उसी की अपेक्षा से आम को हरा और खट्टा कहा गया है। आम के सम्बन्ध में यह कथन सत्य कथन है क्योंकि उसमें अनेकान्त सूचक स्वर है। किन्तु यदि कोई कहे कि आम हरा ही है, खट्टा ही है, तो यह एकान्त आग्रहवादी कथन होगा। इस के प्रयोग में वर्तमान एवं भविष्य काल के अन्य गुण धर्मों का सर्वथा निषेध है और सत्य का सर्वथा अपलाप है, एक ही प्रतिभासित आंशिक सत्य का आग्रह है। और जहाँ इस तरह का आग्रह होता है वहाँ आंशिक सत्य भी सत्य न रहकर असत्य का चोला पहन लेता है। इसलिए महावीर ने प्रतिभासित सत्य को स्वीकृति देकर भी अन्य सत्यांशों को लक्ष्य में रखते हुए आग्रह का नहीं, अनाग्रह का उदार दृष्टिकोण ही लिया।

लोक जीवन के व्यवहार क्षेत्र में भी हम इसका प्रयोग करते रहें किन्तु [illegible] का प्रयोग करते हुए अधिक सफल और मर्यादित रह सकते

---

१ विभज्यवादं च वियागरेज्जा। —सूत्र० १।१४।२२

सत्यांश कल प्रकट हो सकता है उसकी सत्ता उसका अस्तित्व व्यापक एवं उपादेय बन सकता है—अतः हम दोनों सत्यों के प्रति जागरूक रहना है व्यक्त सत्य का स्वीकार करना है, साथ ही अव्यक्त सत्य का भी। हाँ, देश, काल, व्यक्ति एवं स्थिति के अनुसार उसकी यथोचित गौणता सामयिक उपेक्षा की जा सकती है, किन्तु सर्वथा निषेध नहीं।

भगवान महावीर का यह दार्शनिक चिंतन सिर्फ दर्शन और धर्म के क्षेत्र में ही नहीं किंतु संपूर्ण जीवन का स्पर्श करने वाला चिंतन है। इसी अनेकांतदर्शन के आधार पर हम गरीबों का दुर्बलों का और अल्पसंख्यकों को न्याय दे सकते हैं उनके अस्तित्व को स्वीकार कर उन्हें भी विकसित होने का अवसर दे सकते हैं। आज विभिन्न वर्गों में राष्ट्र-जाति धर्मों में जो विग्रह कलह एवं संघर्ष है उसका मूल कारण भी एक दूसरे के दृष्टिकोण को न समझना है वैयक्तिक आग्रह एवं हठ है। अनेकान्त ही इन सबमें समन्वय स्थापित कर सकता है। अनेकान्त संकुचित एवं अनुदार दृष्टि को विशाल बनाता है उदार बनाता है। और यह विशालता उदारता ही परस्पर के सौहार्द सहयोग, सदभावना एवं समन्वय का मूल प्राण है।

अनेकांतवाद वस्तुतः मानव का जीवन धर्म है समग्र मानव जाति का जीवन दर्शन है। आज के युग में इसकी और भी आवश्यकता है। समानता और सहअस्तित्व का सिद्धान्त अनेकांत के बिना चल ही नहीं सकेगा। उदारता और सहयोग की भावना तभी बलवती होगी जब हमारा चिंतन अनेकांतवादी होगा। भगवान महावीर के व्यापक चिंतन की यह समन्वयात्मक देन—धार्मिक सामाजिक जगत में बाह्य और अंतर जीवन में सदा सर्वदा के लिए एक अद्भुत देन मानी जा सकती है। अस्तु हम अनेकान्त को समग्र मानवता के सहज विकास की विश्व जनमंगल की धुरी भी कह सकते हैं।

● ●

जो वस्तुत अपने अन्दर (अपने सुख दुख की अनुभूति) को जानता है वह बाहर (दूसरो के सुख दुख की अनुभूति) को भी जानता है।

५ अतर च खलु इम सपेहाए,
धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए।

—आचाराग १।२।१

जीवन के अनन्त प्रवाह म मानव जीवन को बीच का एक सुअवसर जानकर धीर साधक मुहूत भर के लिए भी प्रमाद न करे।

६ अणभिक्कत च वय सपहाए खण जाणाहि पडिए।

– आचाराग १।२।१

ह आत्मविद साधक! जो बात गया सो बीत गया शप रहे जीवन को ही लक्ष्य म रखते हुए प्राप्त अवसर को परख!

७ अणोहतरा एए नो य ओह तरित्तए।
अतीरगमा एए ना य तीर गमित्तए।
अपारगमा एए नो य पार गमित्तए।

—आचाराग १।२।३

जो वासना क प्रवाह को नही तर पाए हैं व ससार के प्रवाह को नही तर सकत।

जो इन्द्रियजन्य कामभोगो को पारकर तट पर नही पहुच पाए हैं व ससार सागर क तट पर नही पहुच सकत।

जो राग द्वष को पार नही कर पाए हैं व ससार सागर स पार नही हा सकते।

८ सव्वे पाणा पिआउया सुहसाया, दुक्खपडिकूला
अप्पियवहा पियजीविणो, जीविउकामा—
सव्वेसि जीविय पिय, नाइवाएज्ज कचण।

—आचाराग १।२।३

सब प्राणियो को अपनी जिन्दगी प्यारी है। सबको सुख अच्छा लगता है और दुख बुरा।

वध सबको अप्रिय है और जीवन प्रिय। सब प्राणी जीना चाहते हैं।

कुछ भी हो सबको जीवन प्रिय है। अत किसी भी प्राणी की हिंसा न करो।

९ बहु पि लद्धु न निहे
परिग्गहाओ अप्पाण अवसक्किज्जा।

—आचाराग १।२।५

अधिक मिलने पर सग्रह न करो।
परिग्रह-वृत्ति से अपने को दूर रखो।

१० गुरु से कामा तओ से मारस्स अतो,
जओ से मारस्स अतो तओ से दूरे।
नेव से अतो नेव दूरे।

—आचाराग १।५।१

जिसकी कामनाए तीव्र होती हैं वह मृत्यु से ग्रस्त होता है और जो मृत्यु से ग्रस्त होता है वह शाश्वत सुख से दूर रहता है।

परन्तु जो निष्काम होता है वह न मृत्यु से ग्रस्त होता है और न शाश्वत सुख से दूर।

११ बंधप्पमोक्खो अज्झत्थेव।

—आचाराग १।५।२

वस्तुत बधन और मोक्ष अन्दर मे—आत्मा मे ही हैं।

१२ तुमसि नाम स चेव ज हतव्व ति मन्नसि।
तुमसि नाम त चेव ज अज्जावेयव्व ति मन्नसि।
तुमसि नाम त चेव ज परियावेयव्व ति मन्नसि।

—आचाराग १।५।५

जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है वह तू ही है।
जिसे तू परिताप देना चाहता है वह तू ही है।
[स्वरूप दृष्टि से सब चैतन्य एक समान हैं। यह अद्वैत भावना ही अहिंसा का मूलाधार है]

१ जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।
जेण वियाणइ से आया। त पडुच्च पडिसखाए।

—आचाराग १।५।५

जो आत्मा है वह विज्ञाता—जाननेवाला है। जो विज्ञाता है वह आत्मा है।

जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है। जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।

१४ बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया।

—सूत्रकृतांग १।१।१।१

सर्वप्रथम बन्धन को समझो और समझ कर फिर उसे तोड़ो।

१५ अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुसासिउं।

—सूत्रकृतांग १।१।२।१७

जो अपने पर अनुशासन नहीं रख सकता वह दूसरों पर अनुशासन कैसे कर सकता है?

१६ एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चेव एतावंतं वियाणिया।

—सूत्रकृतांग १।१।४।१०

ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है बस इतनी बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए।

१७ संबुज्झह किं न बुज्झह?
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ,
नो सुलभं पुणरावि जीवियं॥

—सूत्रकृतांग १।२।१।१

समझो! अभी इसी जीवन में समझो। क्यों नहीं समझ रहे हो? मरने के बाद परलोक में संबोधि का मिलना कठिन है।

जैसे बीती हुई रातें फिर लौटकर नहीं आतीं उसी प्रकार गुजरा हुआ जीवन फिर हाथ नहीं आता।

१८ सामाइयमाहु तस्स जं
जो अप्पाणं भए ण दंसए।

समभाव उसी को रह सकता है जो अपने को हर किसी भय से मुक्त रखता है।

१९ जहा कुम्म सअगाइ सए देहे समाहरे।
एव पावाइ मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे।

—सूत्रकृताग १।८।१६

कछुआ जिस प्रकार अपने अगों को अदर में समेट कर खतरे से बाहर हो जाता है वैसे ही साधक भी अध्यात्म-योग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पाप वृत्तियों से सुरक्षित रखे।

२० सव्व जग तु समयाणुपेही
पियमप्पिय कस्स वि नो करेज्जा।

—सूत्रकृताग १।१०।६

समग्र विश्व को जो समभाव से देखता है वह न किसी से राग करता है और न किसी से द्वेष। अर्थात् समदर्शी अपने पराये की भेद-बुद्धि से परे होता है।

२१ आहसु विज्जा चरण पमोक्ख।

—सूत्रकृताग ५।१२

ज्ञान और कर्म के समन्वय से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

२२ णो अन्नस्स हेउ धम्ममाइक्खेज्जा,
णो पाणस्स हेउ धम्ममाइक्खेज्जा।
अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा,
कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा।

—सू १६

खाने पीने की लालसा से किसी को धर्म का (उपदेश नहीं) करना चाहिए। साधक बिना किसी भौतिक इच्छा के कर्म निर्जरा के लिए धर्म का उपदेश करे।

२३ सारदसलिल इव सुद्ध हियया
विहग इव विप्पमुक्का
वसुधरा इव सव्वफासविसहा।

मुनिजनों का हृदय शरद्कालीन नदी के जल की तरह निर्मल होता है। वे पक्षी की तरह बन्धनों से विप्रमुक्त और पृथ्वी की तरह समस्त सुख-दुखों को समभाव से सहन करने वाले होते हैं।

२४ असगिहीयपरिजणस्स सगिण्हणयाए
अब्भुट्ठेयव्वं भवति।

—स्थानांग ८

जो अनाश्रित एवं असहाय हैं उनको सहयोग तथा आश्रय देने में सदा तत्पर रहना चाहिए।

२५ गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए
अब्भुट्ठेयव्वं भवति।

—स्थानांग ८

रोगी की सेवा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

२६ अहिंसा तस-थावर-सव्वभूयखेमकरी।

—प्रश्नव्याकरण २।१

अहिंसा त्रस और स्थावर (चर अचर) सब प्राणियों का कुशल क्षेम करने वाली है।

२७ सव्वे पाणा न हीलियव्वा न निंदियव्वा।

—प्रश्न० २।१

विश्व के किसी भी प्राणी की न अवहेलना करनी चाहिए, और न निन्दा।

२८ न कया वि मणेण पावएण पावगं किंचिवि झायव्वं।
वईए पावियाए पावगं न किंचिवि भासियव्वं।

—प्रश्न० ३।१

मन से कभी भी बुरा नहीं सोचना चाहिए।
वचन से कभी भी बुरा नहीं बोलना चाहिए॥

जे य कंते पिए भोए लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चई॥

—दशवैकालिक २।३

जो मनोरम और प्रिय भोगों के उपलब्ध होने पर भी स्वाधीनतापूर्वक उन्हें पीठ दिखा देता है—त्याग देता है, वस्तुतः वही त्यागी है।

३० दिट्ठं मियं असंदिद्धं पडिपुन्नं विअंजियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं भासं निसिर अत्तवं॥

—दशवैकालिक ८।४

आत्मवान् साधक दृष्ट (अनुभूत) परिमित, सन्देहरहित, परिपूर्ण (अधूरी कटी छटी बात नहीं) और स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे। किन्तु यह ध्यान में रहे कि वह वाणी भी वाचालता से रहित तथा दूसरों को उद्विग्न करने वाली न हो।

३१ जे य चंडे मिए थद्धे दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीयप्पा कट्ठं सोयगयं जहा॥

—दशवैकालिक ९।२।३

जो मनुष्य क्रोधी, अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त हैं, वह संसार के प्रवाह में वैसे ही बह जाता है जैसे जल के प्रवाह में काष्ठ।

३२ जे आयरिय उवज्झायाणं सुस्सूसा वयणंकरे।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा॥

—दशवैकालिक ९।२।१२

जो अपने आचार्य एवं उपाध्यायों की अर्थात् गुरुजनों की शुश्रूषा-सेवा तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं उनकी शिक्षाएँ (विद्याएँ) वैसे ही बढ़ती हैं जैसे कि जल से सींचे जाने पर वृक्ष।

३३ वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि।

—दशवैकालिक ९।३।७

वाणी से बोले हुए दुष्ट और कठोर वचन जन्म-जन्मान्तर के लिए वैर और भय के कारण बन जाते हैं।

३४ अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य॥

—उत्तराध्ययन १।१५

अपने आप पर नियन्त्रण रखना चाहिए। अपने आप पर नियन्त्रण रखना वास्तव में कठिन है। अपने पर नियन्त्रण रखने वाला ही इस लोक तथा परलोक में सुखी होता है।

३५ वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मन्तो, बंधणेहि वहेहि य॥

—उत्तराध्ययन १।१६

दूसरे वध बन्धन आदि से दमन करें इससे तो अच्छा है कि मैं स्वयं ही संयम और तप के द्वारा अपना (इच्छाओं का) दमन करूँ।

३६ अप्पाणं पि न कोवए।

—उत्तराध्ययन १।४०

अपने आप पर भी कभी क्रोध न करो।

३७ सोही उज्जुअभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

—उत्तराध्ययन ३।१२

ऋजु अर्थात् सरल आत्मा की विशुद्धि होती है और विशुद्ध आत्मा में ही धर्म ठहरता है।

३८ भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं।

—उत्तराध्ययन ५।२२

भिक्षु हो, चाहे गृहस्थ हो जो सुव्रती (सदाचारी) है, वह दिव्य गति को प्राप्त होता है।

३९ परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए॥

—उत्तराध्ययन १०।२६

तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश पक कर सफेद हो चले हैं। शरीर का सब बल क्षीण होता जा रहा है, अतएव हे गौतम! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न कर।

४० अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भइ।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽलस्सएण वा॥

—उत्तराध्ययन ११।३

जो मनोरम और प्रिय भोगों के उपलब्ध होने पर भी स्वाधीनतापूर्वक उन्हें पीठ दिखा देता है—त्याग देता है, वस्तुतः वही त्यागी है।

दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुन्नं वियंजियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं॥

—दशवैकालिक ८।४

आत्मवान् साधक दृष्ट (अनुभूत) परिमित, संदेहरहित, परिपूर्ण (अधूरी कटी-फटी बात नहीं) और स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे। किन्तु यह ध्यान में रहे कि वह वाणी भी वाचालता से रहित तथा दूसरों को उद्विग्न करने वाली न हो।

जे य चंडे मिए थद्धे दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीयप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा॥

—दशवैकालिक ९।२।३

जो मनुष्य क्रोधी, अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त है, वह संसार के प्रवाह में वैसे ही बह जाता है जैसे जल के प्रवाह में काष्ठ।

३२ जे आयरिय उवज्झायाणं सुस्सूसा वयणं करे।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा॥

—दशवैकालिक ९।२।१२

जो अपने आचार्य एवं उपाध्यायों की अर्थात् गुरुजनों की शुश्रूषा-सेवा तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं, उनकी शिक्षाएँ (विद्याएँ) वैसे ही बढ़ती हैं जैसे कि जल से सींचे जाने पर वृक्ष।

३३ वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि।

—दशवैकालिक ९।३।७

वाणी से बोले हुए दुष्ट और कठोर वचन जन्म-जन्मान्तर के लिए वैर और भय के कारण बन जाते हैं।

३४ अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य॥

—उत्तराध्ययन १।१५

अपने आप पर नियन्त्रण रखना चाहिए। अपने आप पर नियन्त्रण रखना वस्तुतः कठिन है। अपने पर नियन्त्रण रखने वाला ही इस लोक तथा परलोक मे सुखी होता है।

३५ वर मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मंतो बंधणेहि वहेहि य॥

—उत्तराध्ययन १।१६

दूसरे वध बन्धन आदि से दमन करें इससे तो अच्छा है कि मैं स्वयं ही संयम और तप के द्वारा अपना (इच्छाओं का) दमन करूँ।

३६ अप्पाणं पि न कोवए।

—उत्तराध्ययन १।४०

अपने आप पर भी कभी क्रोध न करो।

३७ सोही उज्जुअभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

—उत्तराध्ययन ३।१२

ऋजु अर्थात् सरल आत्मा की विशुद्धि होती है और विशुद्ध आत्मा मे ही धर्म ठहरता है।

३८ भिक्खाए वा गिहत्थे वा सुव्वए कम्मई दिवं।

—उत्तराध्ययन ५।२२

भिक्षु हो चाहे गृहस्थ हो जो सुव्रती (सदाचारी) है, वह दिव्य गति को प्राप्त होता है।

३९ परिजूरइ ते सरीरयं केसा पंडुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए॥

—उत्तराध्ययन १०।२६

तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है केश पक कर सफेद हो चले हैं। शरीर का सब बल क्षीण होता जा रहा है अतएव हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न कर।

४० अह पंचहि ठाणेहि जेहिं सिक्खा न लब्भइ।
थंभा कोहा पमाएणं रोगेणालस्सएण वा॥

—उत्तराध्ययन ११।३

जो मनोरम और प्रिय भोगों के उपलब्ध होने पर भी स्वाधीनतापूर्वक उन्हें पीठ दिखा देता है—त्याग देता है, वस्तुतः वही त्यागी है।

३० दिट्ठं मियं असंदिद्धं पडिपुन्नं वियंजियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं भासं निसिर अत्तवं॥

—दशवैकालिक ८।४८

आत्मवान् साधक दृष्ट (अनुभूत) परिमित, सन्देहरहित परिपूर्ण (अधूरी कटी-फटी बात नहीं) और स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे। किन्तु यह ध्यान में रहे कि वह वाणी भी वाचालता से रहित तथा दूसरों को उद्विग्न करने वाली न हो।

३१ जे य चंडे मिए थद्धे दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीयप्पा कट्ठं सोयगयं जहा॥

—दशवैकालिक ९।२।३

जो मनुष्य क्रोधी, अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त हैं वह संसार के प्रवाह में वैसे ही बह जाता है जैसे जल के प्रवाह में काष्ठ।

३२ जे आयरिय उवज्झायाणं सुस्सूसा वयणं करे।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा।

— दशवैकालिक ९।२।१२

जो अपने आचार्य एवं उपाध्यायों की अर्थात् गुरुजनों की शुश्रूषा सेवा तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं, उनकी शिक्षाएँ (विद्याएँ) वैसे ही बढ़ती हैं जैसे कि जल से सींचे जाने पर वृक्ष।

३३ वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि।

—दशवैकालिक ९।३।७

वाणी से बोले हुए दुष्ट और कठोर वचन जन्म-जन्मान्तर के लिए वैर और भय के कारण बन जाते हैं।

३४ अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य।

—उत्तराध्ययन १।१५

अपने आप पर नियन्त्रण रखना चाहिए। अपने आप पर नियन्त्रण रखना वस्तुत कठिन है। अपने पर नियन्त्रण रखने वाला ही इस लोक तथा परलोक में सुखी होता है।

३५ वर मे अप्पा दतो संजमेण तवेण य।
माह परेहि दम्मतो बधणेहि वहेहि य ॥

—उत्तराध्ययन १।१६

दूसरे वध बन्धन आदि से दमन करें इससे तो अच्छा है कि मैं स्वय ही सयम और तप के द्वारा अपना (इच्छाओं का) दमन करूँ।

६ अप्पाण पि न कोवए।

—उत्तराध्ययन १।४०

अपने आप पर भी कभी क्रोध न करो।

३७ सोही उज्जुअभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिठ्ठई।

— उत्तराध्ययन ३।१२

ऋजु अर्थात् सरल आत्मा की विशुद्धि होती है और विशुद्ध आत्मा में ही धर्म ठहरता है।

३८ भिक्खाए वा गिहत्थे वा सुव्वए कम्मई दिव।

—उत्तराध्ययन ५।२२

भिक्षु हो चाहे गृहस्थ हो जो सुव्रती (सदाचारी) है वह दिव्य गति को प्राप्त होता है।

३९ परिजूरइ ते सरीरय केसा पडुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायई समय गोयम ! मा पमायए ॥

—उत्तराध्ययन १०।२६

तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है केश पक कर सफेद हो चले हैं। शरीर का सब बल क्षीण होता जा रहा है अतएव हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न कर।

४० अह पचहि ठाणेहि जेहि सिक्खा न लब्भइ।
थभा कोहा पमाएण रोगेणालस्सएण वा ॥

—उत्तराध्ययन ११।३